

# चिन्तन-सूजन

त्रैमासिक

वर्ष 13 अंक 3

जनवरी-मार्च 2016

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शाल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आरथा भारती

दिल्ली

### वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	§ 15

### एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	§ 4

### विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

### आस्था भारती

#### रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट  
मधूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

#### कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट  
मधूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदग, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. सम्प्रकृ धर्मचेतना और उसके बुद्धिजीवी : सही मानचित्र की खोज में प्रो. रमेशचन्द्र शाह	7
2. जागीर छिन जाने का डर जवाहरलाल कौल	19
3. 'कुमार सम्भव' में वर्णित शिवलीला डॉ. श्रीराजन सूरिदेव	24
4. कामायनी : मुक्तिबोध और सभ्यता-विमर्श विजय बहादुर सिंह	29
5. आधुनिक हिन्दी कविता का युगबोध डॉ. शिवनारायण	42
6. पाठशाला-शिक्षा : स्थिति और परिस्थिति रमेश दवे	48
7. वर्तमान राजनीति: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ज्वलंत समस्याएँ प्रणव कुमार	61
8. कोसी अंचल के कहानीकार : दिशा और दृष्टि डॉ. वरुण कुमार तिवारी	76
9. समीक्षा जनता की बात पूरी शक्ति से कहती कविता कमलानन्द झा	85
विन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-2	3

10.	पुस्तक-चर्चा भारत के सांस्कृतिक साभ्यतिक अधिकार बोध और विश्वसभ्यता के विकल्प का विमर्शीय रेखांकन डॉ. विश्वनाथ मिश्र	89
11.	हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में अभियक्त नारी-छवि निशि मोहन	101
12.	आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा-टृष्णि (रीतिकाव्य के सन्दर्भ में) श्वेता पपरेजा	112
13.	भारतीय ग्रामीण विकास में पंचायती राज व्यवस्था की भूमिका करतार सिंह	125
	प्राप्ति-स्वीकार	130
	पाठकीय प्रतिक्रिया	131

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

पिछले दिनों जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, हैदराबाद विश्वविद्यालय एवं जादवपुर विश्वविद्यालय में जो कुछ हुआ और उस पर देश की संसद, समाचार माध्यमों, राजनेताओं के बीच जो बहस चली, और चल रही है, वह आश्वस्त तो बिल्कुल नहीं करती। इस घटना के बाद मोटे तौर पर जो बातें उभर कर आयी, वे थी :

- पाकिस्तान बनने के पूर्व की दो विचार-धाराओं—मुस्लिम अलगाववाद एवं कम्युनिस्ट विचारधारा—के अपवित्र गठबंधन का सत्तर साल बाद फिर से सिर उठाना;
- आजारी के बाद नेताओं की समझदारी का घटना, उनकी स्वार्थपरकता में बढ़ोत्तरी। नासमझ नेताओं का नेतृत्व के शीर्ष पर पहुँचना।
- भारतीय समाचार माध्यमों के एक बड़े वर्ग में राष्ट्र-विरोधी तथा हिन्दू-विरोधी तत्वों का वर्चस्व का बना रहना।
- जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जो कुछ हुआ ऐसा अचानक नहीं हुआ है; हम उस विश्वविद्यालय में चल रहे राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों की लगातार अनदेखी करते रहे हैं।
- इन विश्वविद्यालयों की घटनाओं पर चला विमर्श बिल्कुल सतही रहा है। विमर्श में गोमांस खाने के उत्सव के छिपे प्रेरक तत्वों एवं उनके एजेंडा आदि की बात नदारत रही है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की घटना पर कई समझदार समझे जाने वाले लोगों का बयान, बड़े समाचार पत्रों के सम्पादकीय आदि में यह विचार आया कि इस घटना की छानबीन, समस्या-निदान की जिम्मेदारी विश्वविद्यालय प्रशासन पर छोड़ दी जानी चाहिए थी। ऐसा कहने वाले भूल गये कि ऐसी घटनाएँ उस विश्वविद्यालय में बार-बार होती रही हैं; जैसे कारगिल युद्ध के बाद पाकिस्तानी शायरों का मुशायरा, गलत बात का सेना के अफसर द्वारा विरोध करने पर उसकी पिटाई; सत्तर सी.आर. पी.एफ. जवानों के मारे जाने पर जुलूस, देश के प्रधान-मंत्री को काले झंडे दिखाना, आदि। फिर वहाँ आन्तरिक जाँच एवं लिपा-पोती का क्रम भी चलता रहा है।

कुछ लोगों का कहना था कि जादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति ने जैसे समस्या का निदान किया, वैसा ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की उपकुलपति

करते। वे भूलते हैं कि जादवपुर में विश्वविद्यालय प्रशासन ने कुछ नहीं किया; छात्र दो विरोधी दलों में बैटे, हिंसा की संभावना बढ़ी, बात रफा-दफा हो गयी। आखिर समस्या की अनदेखी उसका निदान तो होती नहीं।

हैदराबाद में एक विद्यार्थी ने आत्म-हत्या की; उसका बाप पिछड़े वर्ग का तथा माँ दलित थी। आत्म-हत्या के पहले लिखी टिप्पणी में उसने किसी पर दोषारोपण नहीं लगाया। घटना, दुखद तो थी ही, लेकिन जिस तरह की राजनीति इस दुखद घटना पर की गयी वह बेहद गलत रही।

हमारे विश्वविद्यालयों में घटी घटनाओं को देश की जनता ने गंभीरता से लिया है, लेकिन पढ़े-लिखे लोगों के एक वर्ग ने इसे जिस नासमझी से लिया है, वह घातक है। आखिर पाकिस्तान की परिकल्पना इंग्लैंड के किसी विश्वविद्यालय के किसी कोने में बैठे एक परिचय-हीन भारतीय मुसलमान छात्र की ही थी। केवल एक विश्वविद्यालय—अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, उस विचार का पोषक रहा, लेकिन पाकिस्तान तो एक दशक बाद बना ही। अतः किसी भी घातक विचार एवं उसकी अभिव्यक्ति को हलके से लेना घातक एवं मूर्खतापूर्ण समझा जाना चाहिए। फिर दोषियों को दण्ड तो मिलना ही चाहिए, ताकि इसकी पुनरावृत्ति बिना सोचे समझे तो नहीं ही हो।

भारत को तोड़ने का एजेण्डा पुराना रहा है, और हिन्दुओं को भीतर से तोड़ने का भी। हमारे शत्रुओं के इस एजेण्डा पर राजीव मल्होत्रा की पुस्तक *Breaking India* काफी प्रकाश डालती है। जाति को नस्ल धोषित करना, हिन्दु पवित्रता के क्षेत्र पर आक्रमण (*Invading the Hindu Sacred*), विश्वविद्यालयों या अन्य जगहों पर गोमांस खाने का आयोजन, महिषासुर महिमा-मंडन के पर्व का आयोजन निरीह गतिविधियाँ नहीं हैं। ऐसी गतिविधियों के देशी-विदेशी प्रायोजकों एवं उनके खतरनाक एजेण्डा से हमें तत्काल सावधान हो जाना चाहिए।

— वी.बी. कुमार

## सम्पर्क धर्मचेतना और उसके बुद्धिजीवी : सही मानचित्र की खोज में

प्रो. रमेशचन्द्र शाह\*

कोई तीसेक वर्ष पुरानी बात होगी जब सुप्रसिद्ध मराठी उपन्यासकार और विचारक भालचन्द्र नेमाडे किसी गोष्ठी में भाग लेने भारत भवन, भोपाल आए थे। तब उनके साथ एक खासी रोचक और विचारोत्तेजक बातचीत ‘पूर्वग्रह’ पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस बातचीत के दौरान उनकी एक उक्ति ने मुझे चौंकाया था। चौंकाया ही नहीं, उद्देलित भी किया था। किन्तु उस उद्देलन की जड़ों में पैठने की जरूरत तब उस तरह महसूस नहीं हुई थी, जिस तरह वह अब जाकर महसूस होने लगी है। वह उक्ति यों थीं कि “विश्व को अपनी पहचान हिन्दू बौद्धिक के रूप में होना आवश्यक है।” क्यों भला? बुद्धि सरीखी सार्वभौम नियामत का हिन्दू या किसी भी धर्म या संस्कृति से जुड़ा होना क्या मानी या मूल्य रखता है। यह तो सरासर अन्तर्विरोध हुआ। बौद्धिकता या बुद्धि वैभव तो सर्वथा धर्मनिरपेक्ष वस्तु है : धर्मनिरपेक्ष ही नहीं हुई तो वह बुद्धि क्या! कुछ इसी तरह की प्रतिक्रिया उस वक्त मेरे भीतर हुई होगी।

इसी सन्दर्भ में मुझे रामस्वरूप जी की बहुत पहले पढ़ी हुई पुस्तक *Hindu view of Christianity and Islam* दुबारा पढ़ने की प्रेरणा हुई : इसके लिए निमित्त उत्तेजना जुटाई। अभी पिछले दिनों प्रगट हुई राजीव मल्होत्रा की बहुचर्चित पुस्तक ‘बींग डिफरेंट’ ने—जिसे हिन्दी अनुवाद में ‘विभिन्नता : पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती ऐसा उचित ही नाम दिया गया है। इस पुस्तक का सामने आना—वह भी पाश्चात्य सभ्यता और बौद्धिकता के दुर्भेद्य गढ़ के भीतर से—ऐसी घटना है, जिसे मुझे लगा—पहले बहुत पहले घट जाना था। पर देर आयद, दुरुस्त आयद’। मुझे लगा, यह उसी आवश्यकता की पुकार का यथोचित प्रत्युत्तर देने का सामयिक और सटीक उपक्रम है, जिसे भालचन्द्र नेमाडे की उस उक्ति में रेखांकित किया गया था। इसी

सम्पर्क : एम 4 निराला नगर, भद्रभदा रोड, भोपाल, मो. 09424440574

चिन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

तारतम्य में यह भी, मानो, पहली बार मेरी समझ में आया कि रामस्वरूप जी का लेखन मुझे क्यों इतना विलक्षण और विरल गुणवत्ता वाला लगता रहा है। जिस बौद्धिक परिवेश में हम उगे-पनपे हैं, उसकी मूलभूत विडम्बना का-आत्मविश्वास की क्षीणता और वैचारिक दारिद्र्य का—यथातथ्य अहसास ही मानो हममें नदारद रहा आया है। यहाँ तक, कि जो थोड़े से लोग हमारे भीतर इस अहसास को जगाने का उद्यम करते रहे, उनके भी योगदान को समझने में हम असमर्थ सिद्ध होते हैं। इसी कारण, कि सदियों से अपने ‘होने’ को लेकर ही हम बचाव की ही मुद्राएँ ओढ़े रहने के अभ्यस्त हो गए हैं। वह जो अंग्रेजी में कहावत है ना, कि ‘अटैक इज दि बेस्ट मीन्स ऑव डिफेन्स’—अर्थात् “प्रत्याक्रमण भी किन्हीं परिस्थितियों में आत्म-रक्षा का एकमात्र कारगर उपाय है”—वह यों ही नहीं उपजा, उसका भी अपना औचित्य है, यह बात अब जाकर कुछ-कुछ समझ में आ रही है। राजीव मलहोत्रा ने ही मानो इस प्रकार की स्वचेतना हममें जगाई है।

परन्तु, सच पूछा जाए, तो रामस्वरूप जी बहुत पहले—वर्षों पूर्व—हम सब की ओर से बुद्धिजीवी का यह अनिवार्य दायित्व बखूबी निभा चुके थे। यह बात दूसरी है कि उनके अध्यवसाय के मर्म से उसकी कालज्ञ तीक्ष्णता से हम संवेदित नहीं हो सके, जो उन्हें अभीष्ट रहा होगा। उसे हमने पढ़ा और यत्किंचित् सराहा भी, तो मात्र एक वादजन्य वाग्मिता या कि ‘रेलीजस पॉलेमिक्स’ के तौर पर ही। राजीव मलहोत्रा की महत्वपूर्ण पहल के बाद ही शायद हममें से कुछ लोग उनके किए-धरे को उसकी सही जगह पर रखकर उसका मूल्य औँकने की स्थिति में आ सके हैं। यह अनुभव करने योग्य, कि वह उस कोटि की चीज नहीं है जिसे ‘पॉलेमिक्स’ कहा जाता है, बल्कि उस कोटि का स्वाध्याय-प्रेरित मूल्यवान् कर्म है, जिसे ‘सभ्यता-समीक्षा’ कहा जाता है। परन्तु, क्या उसकी तात्कालिक प्रासारिकता को अनुभव करने के लिए अंग्रेजी मुहावरे का अवलम्ब लेना आवश्यक है? हमारा अपना मुहावरा, हमारी अपनी मर्मोक्ति—‘धर्मो रक्षात् रक्षित्’—क्या काफी नहीं है? यह यथार्थ-दर्शन, कि धर्म भी उसकी रक्षा करता है, जो स्वयं भी अपने धर्म की रक्षा करने में समर्थ है। धर्म की जगह आप यहाँ ‘सभ्यता’ रख दें, तो भी बात वही रहेगी और उसी तरह बोलेगी। ‘हाइंडसाइट’ जिसे अंग्रेजी में कहते हैं—‘पश्चदृष्टि’—उसके अनुसार भी एकदम साफ दिखाई दे रहा है, कि रामस्वरूप जी का समूचा कृतित्व—न केवल ‘नेम्ज़ आव गॉड’ नाम की मेरी विशेष प्रिय पुस्तक, बल्कि ‘हिन्दुइज्म विजा-वी-क्रिश्चियनिटी एंड इस्लाम’ तथा ‘हिन्दू व्यू ऑव क्रिश्चियनिटी एंड इस्लाम’ भी—उनके परवर्ती विद्वान् राजीव मलहोत्रा के पुरुषार्थ—को पूर्वपिक्षित करने वाला कृतित्व है। यह अपने-आप में हमारे बौद्धिक परिवेश पर एक दुःखद टिप्पणी है कि मैंने आज तक अपनी लेखक विरादरी से कभी किसी को रामस्वरूप जी के कृतित्व का गुण-ज्ञान तो दरकिनार, उनका नामोल्लेख तक करते नहीं सुना। हममें से—हम बुद्धिजीवी कहलाने वाले लोगों में से कितने ऐसे होंगे

जिन्होंने तथाकथित विश्व-धर्मों को सचमुच पढ़ने-समझने और अपनी खुद की धर्मदृष्टि से जाँचने-परखने की जरूरत महसूस की होगी? बहुत-बहुत कम, बल्कि शायद कोई नहीं। क्यों भला? क्या यह मानव-स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध बात नहीं, कि आप बचपन से अपने धर्म के बारे में हृद दर्जे की ऊटपटाँग बातें सुनते-सहते आ रहे हैं और कभी भी उनका जवाब—मुँहतोड़ जवाब—देने को प्रेरित नहीं हुए। इसीलिए ना, कि आपको लगा, ‘धर्म-वर्म से हम बुद्धजीवियों का क्या लेना-देना! बकने दो, जिसे जो बकना है।’ सांस्कृतिक संकट की बात अलग है, उसे धर्म से जोड़ने का कोई तुक नहीं। वो हम देख लेंगे। कैसे देख लेंगे? जब आपको इस बुनियादी तथ्य की ही रक्ती-भर भी खबर या परवाह नहीं है कि आपकी संस्कृति आपके धर्म से एकजान है; कि एक का अज्ञान और ग्लानि दूसरे की भी ग्लानि है; कि, धर्म की आपकी समझ आपकी खुद की कमाई हुई समझ नहीं है, बल्कि परावर्तित, अर्थात् नकल की समझ है। जो दूसरे धर्मों के बारे में भी उतनी ही अज्ञानग्रस्त है, जितनी अपने धर्म के बारे में।

भारतीय सभ्यता की प्राणभूत हिन्दू धर्म की नितान्त परावर्तित और आत्महीन समझ न केवल उसके निन्दकों में, बल्कि उसके दावेदारों-प्रशंसकों के भीतर भी कुंडली मारे बैठी हुई है। जबकि, बौद्धधर्म के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। इस विडम्बना और विर्यय के प्रति रामस्वरूप जी जितने सचेत, और हर अनर्थ का प्रतिकार करने में सक्षम लगते हैं, उतना और कोई नहीं। दूसरे तथाकथित विश्वधर्मों का भी उन्हें उतना ही ज्ञान है, जितना अपने धर्म का। इसीलिए उनके जैसी निप्रान्त समझ किसी और की नहीं, उनकी आलोचना एक अधिकारी विद्वान् की आलोचना है, किसी ऐरे-गैरे की नहीं। ‘हिन्दू व्यू ऑव क्रिश्चियनिटी एंड इस्लाम’ के अन्तिम अध्याय का अवतरण ही देख लें—

गोर विडाल का कहना है कि “बर्बर काँस्य युग में उपजे ‘ओल्ड टेस्टामेंट’ से तीन-तीन मानव-विरोधी मज़हबों का विकास हुआ—जुडाइज्म, ईसाइयत और इस्लाम।” तीनों को उसने sky-god religion कहा है। यह ‘स्काइ-गॉड’ यदि योगलभ्य होता, तो भी कुछ बात थी—क्योंकि योगलभ्य ईश्वर तो सभी देवताओं के भीतर वास करता है, और वह सभी को स्वीकार करने वाला और अपने में बुलाने-मिलाने वाला ईश्वर होता है—चाहे वे धरती के देवता हों, चाहे गणनविहारी देवता हों। मनुष्य चैंकि धरती का भी उतना ही सगा है, जितना आसमान का, इसीलिए उसे दोनों जगह देवत्व की प्रतिष्ठा करनी होती है; और दोनों से परे भी। कठिनाई किन्तु यह है, कि यह ‘आसमानी खुदा’ योगलभ्य आत्मा या परमात्मा नहीं है। वस्तुतः आध्यात्मिक तत्त्व तो उसमें अनुपस्थित ही प्रतीत होता है। कुल मिलाकर वह एक अनम्य और असहिष्णु शक्ति केन्द्र ही प्रतीत होता है। एक सत्तातिष्ठु अवधारणा। अकारण या आकस्मिक नहीं, कि ये आसमानी खुदा वाले मज़हब भयोत्पादक (‘रामचरितमानस’ द्वारा प्रयुक्त

शब्दावली का सहारा लें तो—‘विश्व-परितापी’) ही साबित हुए। सैकड़ों-हजारों वर्षों तक यह पृथ्वी उनके भौतिक और ‘आइडियोलॉजिकल’ आक्रमणों से संत्रस्त रही। स्वयं भारत ने पूरे हजार बरसों तक इन आक्रमणों को झोला—जिनके फलस्वरूप उसे न केवल भारी राजनैतिक और आर्थिक क्षति भुगतनी पड़ी, बल्कि अतुलनीय मानसिक संत्रास भी। उसी सुदीर्घ यातना का नतीजा है कि लोग स्वयं अपने धर्म के श्रेष्ठतम तत्त्वों के बारे में एक विचित्र आत्मविश्वासहीनता और क्षमायाची मानसिकता से ग्रस्त हो गए जान पड़ते हैं एकेश्वरवादी विचारधाराओं का इस कदर सर्वग्रासी आतंक उनके भीतर पैठा हुआ है। जबकि उन विचारधाराओं का यह दबदबा उनमें अन्तर्निहित गुणवत्ता के कारण नहीं, बल्कि उनके राजनैतिक प्रभुत्व के कारण उपजा है।

यहाँ मुझे हठात् बचपन की एक घटना याद आ रही है। घटना भी उसे कैसे कहा जाए? मेरे गृहनगर का जो सबसे पुराना और प्रतिष्ठित स्कूल था, उसके माथे पर खुदी इस इबारत पर पहली बार मेरा अचानक ध्यान जाना—कि “परमेश्वर का भय ही बुद्धि का आरम्भ है!” इबारत पर ‘सोर्स’ नहीं खुदा था। तो मेरा बाल-मन इसी को लेकर चक्कर में पड़ गया कि यह बात आखिर हमारे यहाँ कहाँ और किस किताब में लिखी है? ठीक है, कि नौ-दस बरस की उम्र का लड़का बहुत बारीकियों में नहीं जा सकता। मगर कुतूहल तो उसमें बड़े-बूढ़ों-स्थानों से भी ज्यादा होता है। मैं उस स्कूल-यानी रैम्जे हाई स्कूल में नहीं, दूसरे जी.आई.सी. नामक सरकारी स्कूल में पढ़ता था जहाँ हमें अंग्रेजी पढ़ाने वाले पॉल मास्साव अपेयर दि रौड ऐंड स्पौइल दि चाइल्ड’ (‘डंडा हाथ से गया कि लड़का हाथ से गया’) के कायल थे। मगर वही क्यों, हमें उर्दू पढ़ाने वाले मौलवी साहब और म्यूजिक सिखाने वाले लेले साहब भी कुछ कम नहीं थे। फर्क सिर्फ थप्पड़ मारने और चिकोटी काटने के बीच का था। बल्कि सबसे ज्यादा डर तो इतिहास पढ़ाने वाले धर्मानन्द जी की ‘चिकोटी’ से लगता था। बस एक हिन्दी वाले मास्साहब ही थोड़ा ‘डिफरेंट’ लगते थे और मेरी शंका का समाधान भी उन्होंने किया। उन्हीं ने मुझे बताया कि वह ईसाई मिशनरियों द्वारा खोला गया स्कूल है और इसीलिए उसके माथे पर जो इबारत खुदी है, वह ईसाइयों के ही धर्मग्रन्थ ‘बाइबिल’ से ली गई है। मगर इतने से मेरा समाधान भला कैसे होता! इतना तो अन्दाज मुझे भी तब तक लग ही चुका था। मेरा सबाल यह था कि क्या यह बात सच है? और अगर सच है, तो हमारे धर्मग्रन्थ में भी तो होनी चाहिए। तो, बताइए तो, कहाँ किस जगह ठीक यही बात लिखी हुई है? मास्साहब ने कुछ खास बताया नहीं; सिर्फ, मुस्कुराते हुए तुलसीदास जी के ‘भय बिनु होय न प्रीति’ वाला दोहा ठोंककर चलते बने। उनकी मुस्कुराहट ने ही जता दिया कि मेरी बात टाल दी गई है और इस चक्कर में पड़ना फिजूल है। पिताजी से पूछा तो बोले—“अलूणिया बाबा से पूछो, उन्हें सब पता रहता है!” अब ये अलूणिया बाबा शहर से दूर एक जंगल में कुटी बनाकर रहते थे और किसी से मिलते-जुलते नहीं थे। सिर्फ, पता नहीं क्यों महीने में एक दो-बार हमारे घर

आते थे। उन्हीं के मुँह से मैंने पहली बार गीता का श्लोक सुना था और वह मुझे इतना स्वादिष्ट लगा था कि बिना उसका मतलब समझे मैंने उसे रट लिया था और उन्हें सुना भी दिया था। उन्होंने मेरी पीठ ठोकते हुए—“जब भी मैं आऊँ तुम मुझे कम-से-कम दस श्लोक रटके सुनाओगे—तुम्हारा उच्चारण बहुत अच्छा है।” यह आदेश जारी कर दिया था। वे मुझ पर कुछ ज्यादा ही मेहरबान हो गए थे और जब तक वे हमारे नगर से विदा हुए, तब तक पूरे ग्यारह अध्याय मुझे रट गए थे। पर यह बाद की बात है। उस वक्त तो मेरे उस सबाल के जवाब में उनके मुँह से निकली बात मुझे आज भी ज्यों-की-त्यों याद है। उन्होंने मुझे बताया कि “बाइबिल बहुत बढ़िया ग्रन्थ है और तुम बड़े होकर उसे जरूर पढ़ना—उसमें बहुत जोरदार कविता और कहानियाँ हैं। मगर भगवान् के साथ उनका रिश्ता हमसे थोड़ा अलग किस्म का है। हमारे रामायण-महाभारत में, पुराणों में, गीता में जैसा रिश्ता है, उससे बहुत अलग। तुम्हें गीता अच्छी लगती है—अभी उसी पर ध्यान लगाओ। बाइबिल-कुरान वगैरह बाद में पढ़ना। तब हमारे-उनके बीच क्या अन्तर है, तभी तुम्हारी समझ में आएगा। गीता तो नर-नारायण के रिश्तों पर ही टिकी हुई है—उसमें उसी रिश्ते की कविता है, उसी का गाना है। अर्जुन को भगवान् कितना चाहते हैं, कितना प्यार करते हैं। तभी तो साफ कहते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी जिस रहस्य को नहीं जानते; जानने को तरसते रह जाते हैं, वह मैं सबका सब तुझे बता रहा हूँ, क्योंकि तू मेरा सखा है, प्यारा दोस्त है। तुझसे मैं कुछ भी नहीं छुपा सकता। और, सचमुच उन्होंने जैसा कहा, वैसा ही किया—कुछ भी नहीं छुपाया। सिर्फ उपदेश ही नहीं दिया—सांख्य और योग और भक्ति का—बल्कि, विराट् दर्शन भी करा दिया। क्या हालत हो गई थी अर्जुन की—वह भयानक दृश्य देखकर! कि इतना प्यारा सखा उसका यमराज का भी यमराज बनकर तीनों लोकों को चबा रहा है, निगल रहा है। क्यों दिखाया अपना ऐसा विराट् रूप भगवान् ने अर्जुन को? तूने अभी जो बाइबिल का कोटेशन बताया, वह और क्या है, बता। नारायण अपने सखा नर को वह सब दिखा रहे हैं, जिसे देखे बिना सच्चा-पूरा ज्ञान अपना और दुनिया का और भगवान् का भी नर को नहीं हो सकता। अर्जुन जिस लड़ाई से डर के अपने सखा श्रीकृष्ण से—यानी, अपने सारथी से—बड़ी-बड़ी बातें कर रहा था। वह डर इस विराट् दर्शन से उपजे डर के सामने क्या है? कुछ भी तो नहीं। तो मारे डर के अर्जुन की यिथी बँध गई हैं—“वैपथुश्च शरीरे में, रोमर्हश्च जायते/न हि शक्नोमि भ्रवस्थातुं अमतीव च मे मनः!”। वह थरथर काँप रहा है, उसे चक्कर आ रहा है। खड़े रहते नहीं बनता। “नहीं-नहीं! मुझसे झेला नहीं जा रहा तुम्हारा यह विकराल रूप भगवान्! तुम तो फिर से उसी सौम्य रूप में लौट आओ—जो मुझे प्रिय है, और जिसका मैं आदी हूँ।” तो, भगवान् अपने प्रिय नर की बात तुरन्त मान लेते हैं। मगर तुम्हीं बताओ क्या यह अर्जुन वही अर्जुन है जो विराट् दर्शन से पहले था? इतने बड़े चरम साक्षात्कार के बाद क्या कोई पहले जैसा मोह-माया में लिथड़ा हुआ अज्ञानी-अहंकारी जीव बना रह

सकता है? कदापि नहीं। यह अर्जुन अब वो अर्जुन नहीं रहा। वह भय की पराकाष्ठा को छूकर पूर्ण अभय में प्रतिष्ठित हो चुका अर्जुन है। क्या मतलब हुआ इसका, बता। जब तू बाइबिल बाँच लेगा, तब मुझे बताना, बाइबिल जिस भय से बुद्धि का आरम्भ हुआ बताती है, उसके बाद, उसके आगे क्या वह इस अभय और इस ‘सत्त्वसंशुद्धि’ और ‘ज्ञानयोगव्यवस्थिति’ तक पहुँचाती है अपने उस ‘आदम’ की डरी हुई ओर डर से ही उपजी बुद्ध को? नहीं! बिलकुल नहीं। बहुत बड़ा बेशक, बहुत बड़ा साम्राज्य है उनके भगवान् का। और उनके भक्त भी अपने लिए वैसा ही साम्राज्य चाहते और बना भी लेते हैं। ठीक ही कहती है उनकी बाइबिल, कि ‘गॉड मेड मैन इन हिज ओन इमेज’। हमारे यहाँ भी कहीं-कहीं इसी तरह की बात हो सकती है। मगर असली बात वो नहीं है। असली बात, जो हिन्दू धर्म की बाकी सारे धर्मों से अलग पहचान देती है, वह यह है, कि नर और नारायण के बीच कोई अपाट्य खाई नहीं है। नर भी कहीं बहुत गहरे में, वस्तुतः नारायण ही है। किन्तु भूल गया है कि वह नारायण है। उसके स्वरूप-ज्ञान पर अज्ञान के परदे पड़े हुए हैं। पर, बेटा! ऐसा भी नहीं है, कि वे परदे हटाए-मिटाए नहीं जा सकते। हर युग में ऐसे महापुरुष जन्म लेते रहे हैं और लेते रहेंगे जो जीते जी चलते-फिरते, हँसते-बोलते भगवान् ही हैं। तुझे रामकृष्ण परमहंस की कथा सुनाई थी कि नहीं मैंने उस दिन? किस भगवान् से कम थे वे, बता। अवतार भी उन्हें मानें तो कोई हर्ज नहीं। बता, हमारे इस ‘अवतार’ में और उनके मसीहा में क्या फर्क है? यही ना, कि अवतार होते रहते हैं, जबकि मसीहा तो एक ही और एकमात्र ही हो सकता है। है कि नहीं?”

बात कहाँ-की-कहाँ भटक गई। कहाँ रामस्वरूप जी और राजीव मलहोत्रा? और कहाँ अलूणिया बाबा! चलिए, फिर से वापस उसी बिन्दु पर लौटते हैं। वहीं, जहाँ हमने रामस्वरूप जी को एकेश्वरवादी, धार्मिक-साम्राज्यवादी विचारधाराओं के सर्वग्रासी आतंक की बात करते सुना था और यह भी, कि उसी के फलस्वरूप हिन्दूजन स्वयं अपनी धर्मप्राण संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्त्वों को लेकर भी दुनिया के सामने क्षमायाची मुद्रा अपनाए रहते हैं। रामस्वरूप जी इस स्वयमारोपित आत्महीनता की विडम्बना का विश्लेषण करते हुए आगे हमें बताते हैं कि किस तरह इस्लामी और ईसाई शासन की अधीनस्थता के दौर में हिन्दुओं ने अपने संकट का सामना और प्रतिकार करने का उपक्रम किया। क्या थे ये उपक्रम उनके? सर्वप्रथम तो, उन्होंने यह दावा किया कि हिन्दुत्व में भी वे सभी विशेषताएँ हैं, वे सभी गुण, जो ईसाइयत और इस्लाम में हैं—अर्थात् एक ईश्वर, एक धर्मग्रन्थ और एकाधिक मसीहा सरीखे महापुरुष। रामस्वरूप जी इसका भी व्यौरा देते हैं कि किस तरह उस समय के अधिकतर समाज-सुधारकों और पंथों में होड़-सी मची हुई थी—विदेशी आक्रान्ताओं को यह जतलाने की, कि ‘हम भी तुम्हारे जैसे ही हैं।’ वे मार्टिन हैग नामक एक जर्मन विद्वान का हवाला देते हैं जिसने जब सन् 1800 में पारसियों को यह बताया कि “अरे, तुम्हारा असली धर्म तो

एकेश्वरवाद ही है, जिसमें मूर्तिपूजा और पूजा-अनुष्ठानादि के लिए कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं,” तो पारसियों ने बड़ी भारी राहत की साँस ली। इसी प्रकार ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और अकाली सम्प्रदाय ने भी एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजा-विरोधी वृत्ति को अपनाया। यहीं पर रामस्वरूप जी प्रश्न उठाते हैं कि यह कैसा सुधारवाद था—किस कोटि का आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन था, जिसके उद्घोषकों को कभी यह जरूरत तक महसूस नहीं हुई कि वे अपने सामने खड़ी समस्या को सचमुच चुनौती की तरह स्वीकार करें और उसका समुचित उत्तर दें? परन्तु उत्तर वे देते कैसे? उत्तर देने के लिए उन्हें अपने शासकों के मज़हबों का अध्ययन करना,—उसे पूरी तरह जाँचना-परखना पड़ता। यह परिश्रम करने के लिए वे प्रस्तुत नहीं हुए।...उनमें से किसी को भी उन मज़हबों की मूलभूत विचारधारा के अन्तरंग में पैठने की प्रेरणा नहीं हुई। न ही उन्होंने उनकी तीन बुनियादी अवधारणाओं—एक आसमानी परमपिता, उनके एकमात्र प्रतिनिधि मसीहा और एकमात्र आसमानी किताब को प्रश्नांकित करने की ज़रूरत महसूस की।

उक्त सुधारवादी युक्ति के अलावा जो एक दूसरा तरीका हिन्दुओं ने अपने संकट के इलाज की तरह अपनाया, वह भी रामस्वरूपजी की दृष्टि में उतना ही आत्मघाती था। वह तरीका था समन्वयवाद। जो जैसा कि—हिन्दी कवि आलोचक विजय देवनारायण साही ने अपनी एक महत्वपूर्ण लेखमाला (‘धर्मनिरपेक्षता की खोज’) में दर्शाया है, कि समन्वयवाद हमेशा सतह पर ही तैरते रहने को विवश होता है। क्या था यह समन्वयवाद? रामस्वरूप जी के ही शब्दों में—“इन समन्वयवादियों ने यह मनमाना दावा पेश किया कि सारे धर्म एक समान हैं और एक ही सत्य को प्रतिपादित करते हैं। उन्हें एकाएक अपने धर्मग्रन्थों में बाइबिल और कुरान की सारी खूबियाँ दिखाई देने लगीं और इसके साथ-ही-साथ बाइबिल और कुरान में कही गई बातें अपने उपनिषदों आदि में भी नज़र आने लगीं। इस आपातरम्य समीकरण की पुष्टि हेतु उन्होंने अपने वांगमय से मनमाने तौर पर उद्धरण भी ढूँढ़ निकाले। अपने भीतर कहीं यह अच्छी तरह जानते-बूझते हुए भी, कि उन विदेशी धर्मग्रन्थों में उपनिषदों के समकक्ष और समानान्तर दरअसल कुछ खास है नहीं, अपनी समन्वयी सदाशयता से प्रेरित होकर वे बारम्बार वही रट लगाए रहे। इसके लिए वे जहाँ-तहाँ से इक्के-दुक्के सूत्रों-वाक्यों को ही मात्र सुविधा और सतही समरूपता के तर्क से चुनते रहे और उनमें वह अर्थ, वह अनुभव भी अपनी तरफ से अध्यारोपित करते रहे जो वस्तुतः उनमें था नहीं। इस तरह की उभयसम्भव और छायाजीवी चयनधर्मिता के सहारे उन्होंने नितान्त भिन्न विचारधाराओं को बलपूर्वक निकट लाने का अपनी ओर से सदाशयी, किन्तु विवेक-दृष्टि से तथ्य-विरोधी प्रयत्न किया : ‘अपने’ और ‘उनके’ बीच के बुनियादी और दूरगामी फर्क को अनदेखा करते हुए; और नितान्त सतही सादृश्य-प्रतीतियों को ही रेखांकित करते हुए। रामस्वरूप जी का कहना है कि “ऐसा करते हुए वे सदाशयी

महानुभाव अपने ही लोगों के बीच ईसाइयत और इस्लाम के पुरस्कर्ताओं और प्रचारकों की तरह पेश आए।” वे इस विडम्बना को भी बेलाग ढंग से रेखांकित करते हैं कि जहाँ एक ओर आधुनिक युग में स्वयं पश्चिम के कई सारे विचारक और खोजी जिज्ञासुवृत्ति वाले विद्वज्जन स्वयं ईसाइयत को आध्यात्मिक अनुभव और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अपर्याप्त और त्रुटिपूर्ण पाते और बताते हैं, वहाँ, दूसरी ओर, इन हिन्दू समन्वयवादियों की बदौलत कालगतिवश भीतर से कमज़ोर पड़ते जा रहे ईसाई धर्मविश्वासों और उनके प्रचार-प्रसार हेतु परिचालित संस्थाओं और संगठनों को अप्रत्याशित संपुष्टि प्राप्त हो रही है।

रामस्वरूप जी की खासियत यह है कि वे वस्तुस्थिति को यथातथ्य देखने और उसका यथावत् सामना करने का पुरजोर आग्रह करते हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे सामने असली चुनौती सच्चे अर्थों में अपनी सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने—यानी, अपनी शब्दावली में जिसे पुरुषार्थ कहा गया है, वह पुरुषार्थ कर दिखाने की है। दो-दो साम्राज्यवाद इसी बीच पनपे और समाप्त भी हो गए। किन्तु अपने छायाजीवी अनुयायियों की जो विरासत वे पीछे छोड़ गए हैं, उससे केसे निपटा जाए? उसके प्रलम्बित कुप्रभावों से कैसे मुक्त हुआ जाए? रामस्वरूप जी के ही शब्दों में, “भारत ने सन् 1947 में राजनैतिक स्वाधीनता तो हासिल कर ली, किन्तु अब उस पर स्वयं हिन्दू-विरोधी हिन्दुओं का आधिपत्य है। पुरानी मानसिक दासता तो अभी भी बरकरार है। भारत अभी तक अपनी सच्ची बौद्धिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता में मुक्त—यानी आत्म-प्रतिष्ठित हुआ ही नहीं है। पं. विद्यानिवास मिश्र कहा करते थे कि “उन्नीसवीं सदी का हमारा पुनर्जागरण अधूरा था। उसे पूरा करना हमारी जिम्मेदारी है।” कुछ-कुछ वैसी ही अनुभूति से प्रेरित होकर रामस्वरूप जी भी यही कहते हैं कि दास्योत्तर भारत अब अपने स्वाधीनता-संग्राम के दूसरे दौर में प्रवेश कर रहा है। यह दूसरा संग्राम यानी संघर्ष, पहले दौर वाले संघर्ष की तुलना में किसी भी मानी में कम कठिन और चुनौती भरा नहीं है। अपने स्वरूप से विचिह्नन, अपनी सभ्यता के मूलाधार से ही बुरी तरह कटे हुए, और नैतिक तथा वैचारिक दोनों मोर्चों पर निहत्ये हिन्दू नितान्त असंगठित, लाइलाज़ बिखराव और अन्तर्बाह्य अराजकता के निरीह आखेट बने हुए हैं जाने कब से। उन्हें सच्चे और सुयोग्य नेतृत्व का अकाल पड़ा हुआ है। अधिकतर हिन्दू बूद्धिजीवी भी अपनी योगलभ्य अभय-दृष्टि और सम्पन्न आध्यात्मिक विरासत से कटे हुए हैं। उन्हें खुद अपने इतिहास के लाले पड़े हुए हैं और, जहाँ तक उनकी धर्म-चेतना या धर्म-ज्ञान का प्रश्न है, वहाँ भी वे केवल एक उदासीन वृत्ति अपनाए हुए हैं; बल्कि, जाने-अनजाने उसके ठीक उलट आत्मद्रोह से ही और परप्रत्ययनेय मानसिकता से परिचालित हैं। दूसरी ओर, जो राष्ट्रवादी विचारधारा का दम भरते हैं, उनकी आत्ममुग्धता और बौद्धिक विपन्नता से उपजी उसी को दर्शाती वाग्मिता भी कम निराश नहीं करती। इस व्यापक उदासीनता और अपसंस्कृति की

बाढ़ में हिन्दुओं की पारम्परिक धार्मिक संस्थाएँ भी बदहाली की शिकार बनी हुई हैं।

सबसे जरूरी नियामत—शिक्षा का हाल तो उससे भी बदतर है। रामस्वरूप जी के शब्दों में “हिन्दुओं की शिक्षा स्वयं उनके हाथों में नहीं। कड़वी हकीकत यह भी, कि धर्म की शिक्षा-दीक्षा तो सदियों से अवहेलित है।” हिन्दू परिवारों के बालक अब तो आज की तारीख में अपने माता-पिता से मिलने वाले संस्कारों से भी वंचित हो गए हैं। क्योंकि माता-पिता स्वयं संस्कारीनता से ग्रस्त हैं और उन्हें बच्चों पर ध्यान देने की परवाह या फुरसत भी नहीं। नतीजा यह, कि अपने ही धर्म और संस्कृति को लेकर नई पीढ़ी घोर अज्ञान से ग्रस्त हुई जा रही है और उन्हें अपनी इस वंचना और असमर्थता का अहसास भी उस तरह नहीं हो पाता कि वह उन्हें अखरे, और, जैसे भी हो, उसकी भरपाई करने में प्रवृत्त करे। रामस्वरूप जी के शब्दों में, “हिन्दू धर्म आज अक्षरशः एक अनाचारित धर्म हो गया है। उच्च शिक्षा के उपकरण और संचार माध्यम जिनके हाथ में हैं, वे प्रचल्न ही नहीं, प्रकट रूप में भी हिन्दू विद्वेषी हैं। स्वयं हिन्दू समाज एक बुरी तरह बँटा हुआ अन्तर्विभक्त समाज हो गया है। जाति-व्यवस्था भी निरन्तर अधोगति को प्राप्त होकर स्वयं उस समाज के अंग-भंग हेतु इस्तेमाल करने की चीज़ हो गई है, जिसकी सुरक्षा के लिए वह ढाली गई होगी। चूंकि हिन्दुओं को बहुत लम्बे अरसे तक हर तरफ से आक्रान्त और पदवलित अवस्था में रहना पड़ा, उन्हें अपनी दुर्दशा को अपनी सहज स्वाभाविक अवस्था मानकर स्वीकार कर लेने की आदत-सी पड़ गई है। इसी कारण जब कभी उसमें यथास्थिति को बदलने जैसी कोई सकारात्मक वेचैनी और हलचल दिखाई देती है, चारों तरफ बावेला मच जाता है। अपने हितों के बारे में थोड़ा भी सचेत और सक्रिय होने की गतिविधियों को तुरत-फुरत ‘हिन्दू सम्प्रदायिकता के उभार’ की तरह प्रचारित करने की मुहिम छेड़ दी जाती है।

“परिस्थिति सचमुच विकट और दुस्साध्य है”—रामस्वरूप जी कहते हैं। पर अपने इस आकलन में वे यह जोड़ना भी जरूरी समझते हैं कि “परिस्थिति जैसी भी है, हमें उसको तूल न देते हुए यही सोचकर अपना कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए कि हमारे इस दुरवस्था में पटके जाने में भी विधाता का (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ‘इतिहास-विधाता’ का) कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होगा और ये सारी विडम्बनाएँ और बाधाएँ भी अन्ततः हमारा हित साधन ही करेंगी।” अजीब उलटबाँसी सरीखा लगता है ना यह विश्वास उनका? किन्तु वे साफ तौर पर यह दुराशा सरीखी आशा जताते हैं कि “भारत सुदीर्घ काल से सुप्तावस्था में या मूर्च्छा में पड़ा रहा है और उसको इस बेहोशी से उबारने-जगाने के लिए ये सारे आघात आवश्यक थे। बल्कि, सम्भव है, अभी और भी आघात उसे झेलने पड़ें। परन्तु हमें अपने भीतर इस उम्मीद की लौ को बुझने नहीं देना है कि हमारे भीतर ही कुछ ऐसा है, जो हमें सारे आघातों और सारी बाधाओं से पार पाने की सामर्थ्य देता है और वही हमारा धर्मप्राण हिन्दुत्व

अन्ततः आत्मयता को उसका जैसा जो भी योगदान स्वयं इतिहास-विधाता को अभीष्ट है, वह सही मायनों में चरितार्थ हो सके।

रामस्वरूप जी की उक्त पुस्तक के अन्तिम अध्याय का अन्तिम खंड भी बहुत मार्मिक और मननीय है। इसमें वे कहते हैं कि जब भारत फिर से अपने सनातन धर्म (जिसे ‘रेलीजन ऑव दि सेल्फ’—अर्थात् आत्मा का धर्म कहा था, आयरलैंड के विश्वविद्यालय महाकवि यैट्स ने, और ‘पेरेनियल फिलॉसफी’ कहा है आल्डुअस हक्सले ने) में प्रतिष्ठित हो जाएगा सचमुच, तब कई ऐसी उजली सम्भावनाएँ भी साकार और चरितार्थ होने लगेंगी, जो अभी हमारे सोच-विचार का हिस्सा नहीं बनी हैं। सदियों की विपद्ग्रस्तता के दौरान जब इस प्रायद्वीप (गोविन्द चन्द्र पांडे ने जिसे ‘महाद्वीपीय सभ्यता’ नाम दिया है) के हिन्दू धर्मावलम्बी भारी दबाव में अपने पुरुखों की जन्मभूमि से विस्थापित होकर मारीशस, सूरीनाम इत्यादि दूर-दराज के मुल्कों में निर्वासित होने को बाध्य हो गए थे। अब उनमें से कई लोग वापस अपने घर लौटना चाहेंगे। इसी तरह अपने उत्कर्ष के दिनों में हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का दक्षिण-पूर्व, मध्य पूर्व, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के कई देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। कालान्तर में—परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप वे सम्बन्ध विच्छिन्न हो गए। किन्तु पुनर्जागृत भारत उन सम्पर्कों को पुनर्जीवित करने और भग्न हो चुकी सांस्कृतिक कड़ियों को सहज रूप से फिर से जोड़ने को प्रेरित होगा और तदनुरूप प्रयास भी करेगा।

उनकी यह धारणा और विश्वास भी निराधार नहीं लगता कि यह पुनर्जागृत भारत अफ्रीका महाद्वीप और दोनों अमरीकाओं के बारे में भी एक नए ढंग से सचेत संवेदनशील होगा। पिछली कई सदियों के दौरान वह इस सम्बन्ध में स्वयं अपनी ओर से पहल करने की स्थिति में नहीं था। जितना जो कुछ भी वह उनके बारे में जानता था, सब यूरोप के ही माध्यम से जानता था। अब नई परिस्थिति में यह खुद अपने दिलो-दिमाग से सोचेगा-करेगा। अब वह उन महादेशों के साथ सीधा सम्बन्ध बताने को प्रेरित होगा—वास्तविक आध्यात्मिक धरातल पर। उसे पारम्परिक अफ्रीका और पुरानी अमरीकी सभ्यता-संस्कृति को नए सिरे से खोजने-समझने की स्वतःस्फूर्त प्रेरणा होगी। वगैर पाश्चात्य ईसाई अथवा मार्क्सवादी मध्यस्थिता के। रामस्वरूप जी का कहना है कि “तभी हम पाएँगे कि उनके और हमारे बीच कितना कुछ ऐसा उभयनिष्ठ है, जिसमें हम बराबरी के साझीदार हैं।

इतना ही नहीं, स्वयं यूरोप से भी हमारे सम्बन्ध का नवीकरण और कायाकल्प हो सकता है। पिछली सदियों के दौरान भारत के यूरोप से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहे जरूर; किन्तु, दुर्भाग्यवश, सब इंग्लैंड के माध्यम से। इसी कारण वह रिश्ता अनिवार्यतः ना-बराबरी का रिश्ता रहा। निसन्देह इस अप्रत्यक्ष सम्बन्ध में भी कुछ उच्चकोटि के विद्वान भागीदार हुए और उन्हीं के खोजी परिश्रम की बदौलत हमें यह जानकारी

उपलब्ध हुई कि यूरोपियों के साथ भारतीयों के कितने पुराने सम्बन्ध रहे हैं। यह भी कि उनकी भाषाओं का उद्गम भी एक ही था जो सम्भवतः संस्कृत भाषा का ही एक प्राचीन रूप रहा होगा। यह भी कि उस मूलभाषा को बोलने-बरतने वाले भी सम्भवतः एक ही जन्मभूमि से जुड़े रहे होंगे—जो भारत अथवा भारत के आस-पास ही अवस्थित रहा होगा। इसी के साथ उन विद्वानों की खोजों से यह संकेत भी मिलता है कि उनका धर्म भी वही था जिसका केन्द्रीय प्रतिनिधित्व वेद करते हैं और इसी कारण उनके देवी-देवताओं तथा वैदिक देव-माला के बीच भी गहरे सादृश्य-समानताएँ दिखाई देती हैं।

इसी पर से रामस्वरूप जी इस विचार तक पहुँचते हैं कि अधुनातन सन्दर्भ में—जबकि अनेकानेक यूरोपीय बुद्धिजीवी अपनी प्राचीन धार्मिक जड़ों को खोज निकालने की जरूरत महसूस करने लगे हैं, तब हमारी अजा की तारीख तक येन-केन प्रकारेण जिन्दा विद्यमान हिन्दू परम्परा उनकी सहायता कर सकती है। उनका आदि स्थान क्या था, इस बारे में भले ही मत-वैभिन्न्य की पूरी गुंजाइश हो, किन्तु इस विषय में मतैक्य होना कठिन नहीं, सहज संभाव्य है कि हिन्दू धर्म चेतना—या, कह लें—वैदिक धर्म का ही कोई रूप उनकी भी आध्यात्मिक जन्मभूमि रहा है।

अतएव, इस पुनर्जागृत हिन्दू भाव-बोध की जो सर्वाधिक कागर और प्रभावशाली भूमिका हो सकती है, वह रामस्वरूप जी के शब्दों में—“दुनिया को अपनी धार्मिक जड़ों को खोजने-पहचानने में सहायता प्रदान करना” है। वास्तविकता यह है कि पृथ्वी के अधिकांश देशों ने अपनी पुरातन मूल आध्यात्मिक परम्पराएँ खोदी हैं। किन्तु, एकमात्र यह हिन्दू धर्म ही जैसे-तैसे उन्हें काफी कुछ अक्षत-अक्षुण्ण रखे हुए हैं और आज की तारीख में भी उसमें आध्यात्मिक अनुभव-ज्ञान का ऐसा भण्डार सुरक्षित है—जिसे मानव-जाति अन्यत्र गँवा चुकी है। नवजागृत हिन्दुत्व के माध्यम से मानो, हमारी विश्वव्यापी मनुष्यता का समूचा अतीत स्पन्दित होकर बोलने लगता है। उसके माध्यम से मनुष्य—यानी, आज का डिसइनहेरिटेड (विरासत वंचित) मनुष्य उन सारी प्राचीन छवियों को, स्पन्दनों को, फिर से सुन सकता है, पकड़ सकता है, जिन्हें अ-वाक् हो जाना पड़ा था—आत्मविस्मृति के गहवर में पटके जाने के फलस्वरूप। रामस्वरूप जी का कहना है, कि उन्हीं स्पन्दनों के जरिये मानव-जाति के लिए अपने प्लेटो, हर्मोज, अपोलोनियस और प्लौटिनस इत्यादि आत्मज्ञानी पुरुखों को भी यथावत् सही-सही समझने का मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है और होगा। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन यूरोप के महान् मरमी-रहस्यदर्शी माइस्टर एकर्ट के सूत्र-वाक्यों का वास्तविक अभिप्राय और असली मर्म तभी उद्घाटित हो सकता है, जब उन्हें मूल वेदान्त के आलोक में पढ़ा जाए। मात्र ईसाई परम्परा पर निर्भर रहने से उनका मर्म नहीं प्रकाशित हो सकता। ज्यों-ज्यों हम मानव-जाति के सुदूर अतीत में उसकी

गहनतम्, गुह्यतम् उपलब्धियों के गम्भीर अध्ययन-अनुसंधान में प्रवृत्त होंगे, त्यों-त्यों वेदान्त की आवश्यकता अधिकाधिक प्रखर और प्रत्यासन्न होती जाएगी।

आज की तारीख में रामस्वरूप जी सरीखे अति विरल-विद्वानों को बिना किसी पूर्वग्रह या पूर्वमान्यता से परिचालित हुए गम्भीरतापूर्वक पढ़ना और पुनर्मूल्यांकित करना आवश्यक लगने लगा है तो क्यों? इसलिए कि सच्ची विद्वता का कोई विकल्प नहीं है। निश्चय ही सर्वोच्च महत्व और सबसे बड़ा, सहारा तो द्रष्टा की कोटि के महापुरुषों का ही है, जो इस भारतभूमि में, और अन्यत्र भी प्रगट होते रहे हैं—जैसे उदाहरण के लिए, रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द, रमण महर्षि, महात्मा मंगतराम, जिद्दू कृष्णमूर्ति, आनन्दमयी माँ, निर्सार्गदत्त महाराज, गुर्जियफ, मदाम सॉल्जमन इत्यादि। प्रथम श्रेणी की सर्वोच्च सिद्धि-सर्वथा असर्दिंग्ध प्रामाणिक और मानव-मात्र के लिए सत्यापनीय सिद्धि के जीते-जागते दृष्टान्त तो वही हैं और रहेगे। किन्तु, इतिहास साक्षी है कि ऐसे साक्षात्कारी सिद्धों का होना और होते रहना भी तभी मानव-जीवों की हर श्रेणी के लिए सार्थक और कारगर हो सकता है, जब उनके और एकदम हमारे जैसे साधारणतम् मनुष्यों के बीच सर्जकों, खोजियों, ज्ञानपिपासु विद्वानों, जिज्ञासुओं के सेतुबन्ध भी हर युग में, विद्यमान और सुलभ रह आएँ। ये जानकारी के सेतु भी उतने ही आवश्यक हैं, जितने सर्वोच्च साधक और सिद्ध पुरुष। बिना उनकी सक्रिय उपस्थिति के कोई समाज फल-फूल नहीं सकता, सार्थक जीवन नहीं जी सकता। इन अनिवार्य सेतुओं के कमजोर पड़ जाने और प्रमादग्रस्त हो जाने से किस तरह महापुरुषों का भी सारा किया-धरा अकारथ हो जा सकता है, जातीय स्मृति का भी लोप हो सकता है, यह हम सभी देखते-भुगतते आ रहे हैं। पुण्यक्षीण होना जिसे कहते हैं, और 'काल-सुभाउ करम बरिआई'! जस थोरेउ मँह चुकइ भलाई' उचारने वाले हमारे महाकवि ने जिस कटु यथार्थ को रेखांकित किया है, वह इन्हीं सेतुओं के ठीक से काम न कर पाने का भी परिणाम होता है; यह समझ पाने के लिए हमें कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। हमारे आँख के सामने नित्य ही इस दुश्चक्र की पुनरावृत्ति होती रही है, होती रहेगी। रामस्वरूप जी सरीखे आत्मचेतस् और विश्वचेतस् विद्वानों-बुद्धिजीवियों का योगदान इसीलिए याद रखने और मूल्यांकित किए जाने योग्य है कि वह अपने इस सेतुधर्म को बखूबी निभाता है और परवर्ती पीढ़ियों के लिए समुचित कर्मकौशल का अनुकरणीय उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

## जागीर छिन जाने का डर\*\*

जवाहरलाल कौल\*

सहनशीलता के अभाव की दुहाई देने वालों के लिए सहनशीलता अपनों के बीच का मामला है। असहमत के लिए वे घोर असहनशील हैं। स्वभाव से भी और विचार से भी। अगर आप वामपंथी नहीं हैं तो आप जो कुछ भी हैं, सहन करने योग्य नहीं हैं। नरेन्द्र मोदी उनके लिए असहनीय हैं।

ऐसे समाचार कभी-कभी पढ़ने को मिलते थे कि हालात के मारे किसी व्यक्ति को अपना और परिवार का खर्च चलाने के लिए वे मेडल बाजार में बेच डालने पर मजबूर होना पड़ा, जो उसे शौर्य, कला या विशिष्ट सेवा के लिए प्राप्त हुए थे। तब मन खिन्न हो जाता था, अपनी व्यवस्था की संवेदनहीनता, अकुशलता और उत्तरदायित्वहीनता पर। ऐसी भी घटनाएँ हुई हैं जब सरकारी कर्मचारियों का कोई वर्ग अपने वेतन, पेंशन या सेवा-शर्तों में बदलाव के लिए अपने पुरस्कार वापस लौटाने की धमकी देता दिखाई देता है। लेकिन बहुत से लोगों को तब बड़ी हैरानी हुई जब साहित्य और कला के पारखी और नामचीन लोग अपने पुरस्कार लौटाने के नाम पर ठीक वैसा ही कुछ करने लगे। ये वे लोग थे जिन्होंने जीवन-भर सरकारी अनुग्रह और पुरस्कारों के बल पर समाज में प्रतिष्ठा पाई थी। वे जो अब तक सत्ता के निकट होने की सारी सुविधाएँ भोग रहे थे। जब पुरस्कार और सम्मान वापसी की यह प्रवृत्ति अचानक आन्दोलन बन गई तो चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। हालांकि इसके पीछे एक योजना, सोच-समझकर बनाई गई रणनीति, किसी व्यक्ति विशेष के खिलाफ अभियान के संकेत साफ तौर पर दिखाई देने लगे थे। तब महसूस हुआ कि घोषित उद्देश्यों के धूँधट के पीछे छिपा चेहरा बेहद डरावना है।

\* प्रो. जवाहरलाल कौल, कुलपति, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय (सेंट्रल यूनिवर्सिटी), श्रीनगर-246174 (उत्तराखण्ड); मो. 09412079544

\*\* यह लेख यथावत् (पाकिस्तान) के 1-15 दिसम्बर 2015 अंक में छपा था। उनकी स्वीकृति से प्रकाशित किया जा रहा है।

दरअसल, कुछ लोगों के लिए यह युग परिवर्तन की शुरुआत है। उन्हें लगता है उनके फाख्ता उड़ाने के दिन हवा हो गए। स्वतन्त्रता के पश्चात से ही भारत की राजनीति में वामपंथ की काफी दखल रही है। स्वयं पं. नेहरु भी वामपंथी विचारधारा से प्रभावित थे। हालाँकि उनका वामपंथ पश्चिमी तौर-तरीकों और जीवन शैली के पालने में पलकर बड़ा हुआ था। इसलिए वह किसी कल्पनातोक से अधिक कुछ नहीं रहा। लेकिन शासकों की कमजोरी का वामपंथियों ने फायदा उठाया और व्यवस्था में अच्छी-खासी धुसपैठ बना ली। सोवियत संघ के साथ दोस्ती के दौर में शिक्षण संस्थाओं, इतिहास लेखन और शोध संगठनों, विदेश नीति और राजनीति शास्त्र से जुड़ी संस्थाओं के साथ ही रंगमंच और लेखक संगठनों पर इनका दबदबा होने लगा। यह संयोग नहीं था कि अधिकतर विश्वविद्यालयों में अकादमिक स्तर पर इसी वर्ग का वर्चस्व हो गया। देश के शैक्षणिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक जगत में यह प्रभाव इंदिरा गांधी के बाद तक बना रहा। अटल बिहारी वाजपेयी के दौर में इस स्थिति में थोड़ी-बहुत कमी आई, जिससे बहुत अन्तर नहीं पड़ा। बस कुछ एक गैर-साम्यवादी विशेषज्ञों पर भगवाई होने का ठप्पा लगा। लेकिन नरेन्द्र मोदी अचानक आँधी की तरह आकर छा गए। यह एक ऐसा नेता था जिसको घोर साम्प्रदायिक कहकर दुनिया-भर में बदनाम किया गया था। इसके बावजूद मोदी के नाम पर राजग को जैसा प्रचण्ड बहुमत मिला वैसा ही समर्थन मोदी को देश के बाहर भारतीय समाज के बीच मिला। नरेन्द्र मोदी का अन्तरराष्ट्रीय आकार दिन-प्रतिदिन बड़ा होता जा रहा है। उनकी ओर आज भारत के करोड़ों पढ़े-लिखे युवक प्रशंसा भरी नजरों से देख रहे हैं। साफ है कि जो सरकार अब बन गई उस पर भी दबाव है। सरकार की संस्थाओं व आयोगों में अपनी विचारधारा के लोगों की भर्ती कराने की होड़ चल पड़ी। वामपंथियों को यह समझने में देर नहीं लगी कि नए दावेदार केवल पदों को हथियाने के लिए नहीं आ रहे हैं। बल्कि उनके सोचने का ढंग एकदम अलग है, जो वामपंथियों की विचारधारा के लिए धातक सिद्ध हो सकता है। यह छटपटाहट पिछले साल अप्रैल से ही होने लगी थी, लेकिन वैचारिक स्तर पर सामना करने का दौर अब सामने आया है। अधिकतर वामपंथी अब अपनी सरकारी भौतिक सुविधाओं को बचाने के लिए छटपटा रहे हैं। इसलिए धर्मनिरपेक्षता के नाम पर मीडिया आन्दोलन खड़ा करके इस बदलाव की प्रक्रिया को पटरी से उतारने के लिए धात तगाए बैठे थे। किसी मौके का इन्तजार कर रहे थे। उन्हें निशाना मिला साहित्य अकादमी। कर्नाटक में एक लेखक कलबुर्गी के मारे जाने पर प्रतिरोध का एक लक्ष्य मिल गया। कलबुर्गी साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त कर चुके थे। तर्क यह दिया गया कि अकादमी ने एक प्रतिष्ठित साहित्यकार की निर्मम हत्या का विरोध नहीं किया, कोई शोकसभा तक आयोजित नहीं की। अगर किसी लेखक की हत्या पर साहित्य अकादमी शोकसभा आयोजित करे तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए बशर्ते कि शोकसभा

राजनैतिक प्रतिरोध की सभा न बन जाए। जो लेखक विरोध दर्ज कर रहे थे उनके रुझान को देखकर ही यह साफ था कि उन्हें कलबुर्गी के हत्यारों को दण्डित करने में कम रुचि थी, मोदी को दण्डित करने में अधिक। बहरहाल प्रश्न यह भी है कि क्या हर लेखक की मौत पर या हत्या पर निन्दा सभाएँ आयोजित करना साहित्य अकादमी की पुरानी परम्परा रही है? अगर रही है तो उसे तोड़ने का अपराध अकादमी ने अवश्य किया है। और अगर नहीं है तो इतना बड़ा अपराध कौन-सा हुआ कि उसके दण्ड उस राष्ट्रीय संस्था को ही नहीं, केन्द्र सरकार और उसके बहाने पूरे राष्ट्र को दिया जाए?

प्रतिरोध करने वालों की दृष्टि में उस राज्य सरकार और उसको संचालित करने वाली पार्टी की निन्दा करने से काम नहीं बनता, जिनकी कानून व्यवस्था में वह घटना हुई। कलबुर्गी की हत्या की जाँच के नतीजों की प्रतीक्षा करना भी उनके लिए तर्कसंगत बात नहीं थी। न उनकी हत्या के कारणों पर विचार करने से मतलब सिद्ध होता था। लिंगायत सम्प्रदाय और उनके संस्थापक बासवन्ना की दूसरी पत्नी और उनके भतीजे के बारे में कलबुर्गी ने कुछ विवादास्पद बातें लिखी थीं, जिनसे लिंगायतों का एक बड़ा वर्ग कृपित था। उन्हें पहले भी कई बार धमकियाँ मिली थीं। एक बार तो उन्हें अपने शब्द वापस लेकर क्षमायाचना भी करनी पड़ी थी। कलबुर्गी का कथन सही था या नहीं, उन्हें एक पूरे सम्प्रदाय की भावनाओं का ध्यान रखना चाहिए था कि नहीं, ये बहस के मुद्रे हो सकते हैं। लेकिन यह तथ्य निर्विवाद है कि इससे किसी को भी उनकी हत्या कर देने का अधिकार नहीं मिल जाता। उनकी हत्या निश्चित तौर पर निन्दनीय है, भर्त्सनायोग्य है। इसलिए उसका विरोध आज से नहीं काफी समय से हो रहा है। पर उसमें अचानक मोदी सरकार की असहिष्णुता कहाँ से आ टपकी? कुछ लोगों ने पूछा है कि जो व्यवहार तस्लीमा नसरीन के साथ बांग्लादेश सरकार ने किया और जो नपुंसकता तब भारत सरकार ने दिखाई थी, उस समय यह प्रतिरोध की भावना कहाँ थी? कश्मीरी पंडितों को हैरानी हो रही है कि यही लेखक तब व्यथित क्यों नहीं हुए जब पूरी-की-पूरी जाति को उनके मूल स्थान से निकाल दिया गया? साफ है कि मौत कलबुर्गी की हो या दादरी में एक मुस्लिम नागरिक की, इनके बहाने नरेन्द्र मोदी और केन्द्र सरकार के लिए प्रतिकूल माहौल बनाना ही एक गुट का उद्देश्य था।

दिनमान में मेरे सहयोगी रहे उदय प्रकाश ने पुरस्कार लौटाने का पहला कदम उठाया। दो तीन अन्य लेखकों ने उदय प्रकाश का साथ देने का फैसला किया, तो फिर यह सवाल अपना-अपना पाला बताने का हो गया। तुम हमारे साथ हो, नहीं हो, तुम उनके पाले में हो—यह पाला खिंच गया। तीसरा कोई विकल्प नहीं था। छोटे-बड़े लेखकों में प्रगतिशीलता की जमात में शामिल दिखने की होड़-सी लग गई। आखिर छोटी-बड़ी जागीरों के छिन जाने का सामान्य खतरा पैदा हो गया था। वामपंथियों की

शब्दावली का सामान्य अर्थ नहीं होता। वामपंथियों की जितनी भी विशेषताएँ प्रचारित की जाती हैं उनमें से कोई भी उन पर लागू नहीं होती। अगर आप वामपंथी नहीं हैं तो आप जो कुछ भी हैं, सहन करने योग्य नहीं हैं। सहनशीलता के अभाव की दुहाई देने वालों के लिए सहनशीलता अपनों के बीच का मामला है। असहमत के लिए वे घोर असहनशील हैं। स्वभाव से भी और विचार से भी। हर देश में साम्यवाद का पतन देसी और क्षेत्रीय अस्मिताओं के विप्रोहों से हुआ। इस बात के संकेत सोवियत संघ और चीन से साम्यवादी तत्व के विघटन से पहले ही मिल रहे थे। भारत में भी ऐसा ही हो रहा हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। सत्ता के जिन तख्तों पर वामपंथी विशेषज्ञ, साहित्यकार और इतिहास लेखक आराम से छह-सात दशकों से बैठे थे, वे उतने सुरक्षित नहीं दिखाई देते तो घबराहट पैदा हो गई। इसके चलते रणनीति बनाने की विवशता तो थी ही।

भारतीय समाज चाहे भारत के भीतर रहता हो या विश्व के किसी और देश में, अब अपना रास्ता स्वयं तय करना चाहता है। वह इतिहास को इरफान हबीब और रोमिला थापर की आँखों से ही नहीं देखना चाहता। वह नहीं मानता कि उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, अशोक वाजपेयी और उनके दर्जन-भर साथी मिलकर भारत के जनमत का हरण कर सकते हैं। इसलिए साहित्य और इतिहास, कला और राजनीति को अपने ही बनाए नक्शे के भीतर चलाने की यह धौंस अन्तिम साबित हो सकती है। बशर्ते कि अपने-आपको राष्ट्रवादी कहने वाले नेता यह समझ सकें कि जनमत से डरे और सहमे हुए इन लोगों को अचानक अखबारों की सुरिखियों में छा जाने और अपने-आपको पीड़ित दर्शनि का मौक कथित राष्ट्रवादी नेताओं और जन प्रतिनिधियों ने ही दिया। पुरस्कार वापसी की यह कथित लहर अचानक मझधार में ही रुक गई, तब अभिनेता आमिर खान ने रामनाथ गोयनका मीडिया पुरस्कार समारोह का लाभ उठाते हुए उसे कुछ गति देने के लिए एक और वार किया।

प्रधानमन्त्री मोदी ने सत्ता सँभालते ही सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों की कलास लेना आरम्भ किया था, ताकि उनमें उत्तरदायित्व की भावना जगाई जाए। लेकिन अठारह महीने होते-होते वे सरकार में अपने सहयोगियों और सांसदों को भी अनुशासन में रहने का सबक नहीं दे पा रहे हैं। हर सांसद, हर छोटा-बड़ा पार्टी अधिकारी अपने-आपको पार्टी प्रवक्ता का अधिकार देकर बिना सोचे-समझे बयान देता रहता है। इससे नरेन्द्र मोदी की वह छवि बिगड़ रही है जो उन्होंने आरम्भ में बनाई थी। या कम-से-कम वह छवि जो आम युवा नागरिक ने उनमें देखनी चाही थी। तो क्या इसका अर्थ यह है कि मोदी अपनी पार्टी को सँभाल नहीं पा रहे हैं? तब यह भी देखना होगा कि उनके सामने कौन चुनौती बना हुआ है और कौन उनके सुधार में रोड़े अटका रहा है? 1985 में कांग्रेस के सौ साला अधिवेशन में राजीव गांधी ने पहले दिन बड़े उत्साह के साथ सत्ता के ठेकेदारों को हटाने की सार्वजनिक घोषणा

करके बड़ी उम्मीदें पैदा की थीं। लेकिन उसी अधिवेशन में दूसरे ही दिन कार्यसमिति की बैठक के बाद सत्ता के दलाल फिर से स्थापित हो गए और राजीव को अहसास दिला दिया गया कि उनकी अपनी सत्ता भी उन्हीं दलालों के कारण है।

नरेन्द्र मोदी की छवि राजीव गांधी जैसी नहीं है। तो क्या स्वयं नरेन्द्र मोदी ने ही पार्टी को नजरअंदाज कर अपने-आपको अकेला कर दिया है? कुशल अकेला नेता, चाहे वह कोई हो, दूर तक नहीं जा सकता। नरेन्द्र मोदी को अपनी पार्टी, और शायद अपने सालाहकारों में भी उसी तरह के ‘स्किल डेवलपमेंट’ यानी राजनैतिक कौशल विकसित करने की बहुत आवश्यकता है, जिस तरह वे देश के करोड़ों युवकों में चाहते हैं।

## ‘कुमार सम्भव’ में वर्णित शिवलीला

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव\*

वैष्णव वाङ्मय में लीलावाद या लीला-तत्त्व को सातिशय महत्त्व प्राप्त है। ‘लीला’ शब्द अनेकार्थक है। सामान्यतः यह खेल क्रीड़ा, केलि, विनोद, ढोंग, स्वाँग आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है और विशेषतः ईश्वर-कृत जगत्सृष्टि भी लीला ही है। लोकसृष्टि के सम्बन्ध में ‘ब्रह्मसूत्र’ में उल्लेख है कि ‘लोकवन्तु लीला कैवल्यम्’ (2.1.33)। आप्तप्रकाम महापुरुषों द्वारा, जिनका संसार से कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी संसार के कल्याण के लिए (जगद्विताय) बिना प्रयोजन तथा कर्तृत्व के अभिमान से रहित जितने निष्काम कर्म किए जाते हैं, वे केवल लीला-मात्र ही हैं। ईश्वर अनायास ही केवल संकल्प-मात्र से विराट् विश्व की रचना में समर्थ हैं। हम सांसारिकों के लिए जो कार्य असम्भव है, वह भगवान की लीला मात्र से ही सम्भव हो जाता है (‘लीलया विततं विश्वम्’)। इसीलिए भगवान् या ब्रह्म की लीला अगम और अपार मानी जाती है।

भारतीय चिन्तन में ‘लीला’ शब्द की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कोई भी विस्मयकारी कार्य ‘लीला’ हो जाता है। इस शब्द का अर्थ भी व्यापक है। किन्तु ‘लीला’ शब्द प्रयः रामलीला और कृष्णलीला के अर्थ में रूढ़ हो गया है। ‘लीला’ को सगुणोपासना की दृष्टि से मानव की भाँति व्यक्त शरीर परब्रह्म की केलि-क्रीड़ाओं का वाचक शब्द माना जाता है। किन्तु परब्रह्म की यह क्रीड़ा निष्काम और निष्प्रयोजन होती है। अतएव, अनेकान्तवादी दृष्टि से भगवान् की लीला निर्गुण भी है। सगुण रूप में भोक्ता होकर भी निर्गुण रूप में अभोक्ता बना रहना भगवान् का लीला-विकास ही तो है।

प्रकृति और पुरुष अथवा शक्ति और शक्तिमान् लीला-निरत एक ही ब्रह्म के द्विधा-विभक्त रूप हैं और दोनों का परस्पर नित्य सम्बन्ध से उनकी

\* साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पूर्व व्याख्याता : प्राकृत, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक : ‘परिषद्-पत्रिका’ विहार, राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; पता : ‘शुभैषणा’, एमकोफैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्र, पटना-800006 (विहार), मो. 09334493468

लीला भी नित्य निरन्तर चलती रहती है और उनकी लीला की यह निरन्तरता ही जागतिक जीवन-चक्र का मूलाधार है। लोक-जीवन में भी किसी का सामान्य से कुछ विशिष्ट आचरण लीला ही कहलाता है।

शक्ति और शक्तिमान जिस समय परस्पर लीला करते हैं, उस समय वे दोनों आपस में एक-दूसरे के लीला-कार्यों से पूर्वावगत रहते हैं, फिर भी लोक-रंजन के लिए मनुष्य जैसी अनभिज्ञता की स्थिति की भूमिका निबाहते हैं। वस्तुतः लीला के साथ शक्ति और शक्तिमान् असली रूप में न होकर छायामूर्ति बन जाते हैं। इसीलिए ‘छद्यवेश’ और ‘अनुकृति’ भी लीला के ही पर्याय हैं।

श्रीराम को लीला करने की जब इच्छा हुई थी, तब उन्होंने माता सीता से कहा था कि मैं अब कुछ ललित नर-लीला करना चाहता हूँ, इसलिए लीलावधि में तुम अग्नि में निवास करो। राम के कहने पर सीता अपना प्रतिबिम्ब (छायामूर्ति) छोड़कर अपने असली रूप के साथ अग्नि में समाहित हो गई थीं। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है :

सुनहु प्रियाप्रत रुचिर सुशीला ।  
मैं कुछ करबि ललित नरलीला॥  
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता ।  
तैसैई सील रूप सुविनीता॥

(रामचरितमानस : अरण्यकाण्ड, 23.1-2)

महाकवि कालिदास ने अपने ‘कुमारसम्भव’ महाकाव्य में महाशक्ति पार्वती और महाशक्तिमान् परमेश्वर शिव की अतिशय मोहक लीला को उक्त अनभिज्ञतामूलक ललित भाव-सन्दर्भ में ही उपन्यस्त किया है। स्वरूप-शक्ति के साथ भगवान् शिव की क्रीड़ा केवल क्रीड़ा ही तो थी। चूँकि लीला में लालित्य सहज भाव से सन्निहित रहता है, इसलिए लीला किसी प्रकार भी हो, अच्छी ही लगती है।

महादेव शिव को वर के रूप में प्राप्त करने के लिए महादेवी पार्वती कठोर तप कर रही थीं। उन्होंने अपने उग्र तप से तपस्त्रियों के भीषण तप को भी मात कर दिया था। परमेश्वर शिव को परमेश्वरी पार्वती की शिवभक्ति की परीक्षा लेने की इच्छा हुई। वह ब्रह्मचर्य के तेज से दीप्त तरुण तपस्वी का लीला-रूप धारण कर पार्वती के समक्ष उपस्थित हुए। जटाधारी ब्रह्मचारी शिव साक्षात्-ब्रह्मचर्य के अवतार की तरह दिख रहे थे। वह मृगचर्म और पलाश का दंड धारण किए हुए थे। उनकी वाणी में प्रगल्भता थी।

अतिथि-सत्कार में कुशल पार्वती जी ने आगे बढ़कर उस तरुण ब्रह्मचारी की अगवानी की और विधिपूर्वक उनका आतिथ्य किया। कुछ क्षण पश्चात् बिना किसी भूमिका के लीला-ब्रह्मचारी शिवजी ने ‘सुन्दरि!’ ‘कमलनयने!’ ‘सौम्यदर्शने!’ ‘कृशोदरि!’ आदि विभिन्न प्रकार के मधुर सम्बोधनों के साथ पार्वती जी के उदात्त रूप, अलौकिक

चिन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

गुण, उच्चकुल और कठिन तपश्चर्या की 'यत्परो नास्ति' आशंसन किया। उसके बाद उनके तपोजनित कष्ट पर दुःख और सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने उनसे पूछा—

कियच्चारं श्राव्यसि गौरि विद्यते  
ममापि पूर्वाश्रमसञ्ज्ञितं तपः ।  
तदर्थभागेन लभस्व काङ्क्षितं  
वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥ (5.50)

हे पार्वती! तुम अब कितने काल तक तपस्या का कष्ट उठाती रहोगी? मेरे पास भी पूर्वसञ्ज्ञित बहुत सारा तप है। उसका आधा भाग लेकर तुम अपने अभीष्ट वर को प्राप्त करो। अर्थात् तुम अपने अनुकूल पति का लाभ करो। लेकिन मैं इतना अवश्य जानना चाहूँगा कि तुम्हारा अभीष्ट वर कौन है?

तब पार्वती जी ने अपनी सखी की ओर देखा। उनकी सखी ने उस लीला-वपु ब्रह्मचारी को बताया कि मेरी सखी पार्वती का अभीष्ट वर भगवान् शिव हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए मेरी सखी को जब कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा, तब वह अपने पिता पर्वतराज हिमालय की आज्ञा से तपस्या करने हिमगिरि के गौरी-शंकर शिखर पर स्थित मयूरों से मंडित इस तपोवन में चली आई। 'जगाम गौरी शिखरं शिखमण्डित्।' (5.71)

इस सखी ने लीला-ब्रह्मचारी शिव को आगे बताया कि मेरी सखी पार्वती ने इस तपोवन में जिन वृक्षों को स्वयं लगाया था, वे इसके कठोर तप के साक्षी बनकर अब फूलों से लद गए हैं, किन्तु महादेव शिव को पति के रूप में प्राप्त करने का इसका मनोरथ अभी तक फलीभूत होने की बात तो दूर अंकुरित भी नहीं हो पाया है। (5.60)

पार्वती जी की कठिन तपस्या के विषय में उनकी सखी की बात सुनकर लीलाशिव ने किसी प्रकार की प्रसन्नता नहीं व्यक्त की। उन्होंने पार्वती जी से पूछा— "तुम्हारी सखी ने जो कुछ कहा है, वह क्या सत्य है या परिहास-मात्र है?"

लीला-ब्रह्मचारी की बात सुनकर जप करती हुई पार्वती जी ने अपनी स्फटिक-माला को अङ्गुलियों से समेटकर मुँह में ले लिया और सोच-विचार कर थोड़े-से नपे-तुले शब्दों में कहा—

यथाश्रुतं वेदविदां वर त्वया  
जनोऽयमुच्यैः पदलङ्घनोत्सुकः ।  
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं  
मनोरथानामगतिर्न विद्यते॥ (5.64)

'हे वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ! आपने मेरी सखी से जो कुछ सुना है, वह सच है। (अपनी ओर संकेत करते हुए) यह तपस्विनी महादेव जी जैसे उच्चपदस्थ महापुरुष को

पति के रूप में प्राप्त करने की अभिलाषिणी है। अवश्य ही मेरी यह तपस्या उन्हीं को प्राप्त करने के लिए है। यही मेरी आकांक्षा है, मन की चाह की कोई सीमा नहीं होती।'

पार्वती जी के अभीष्ट वर को प्राप्त करने के दृढ़ निश्चय को जानकर लीलाशिव शिव तनिक भी विचलित नहीं हुए, वरन् अपने लीला-विलास का ततोऽधिक विस्तार करते हुए उन्होंने पार्वती जी के समक्ष शिव की तीव्र निन्दा की। उन्होंने कहा—

"हे पार्वती! तुम निकृष्ट वस्तु प्राप्त करने का हठ कर रही हो। भगवान् शिव तो चिता-भस्म से धूसर अपने शरीर में सर्प लपेटे रहते हैं। शव-संकुल शमशान में वास करते हैं। वह बूढ़े बैल पर सवारी करते हैं। विवाह के बाद जब तुम बूढ़े बैल पर अमंगल देवता शिव के साथ धूमने निकलोगीं, तब सारे नगरवासी हँसेंगे। तीन-तीन आँखों वाले उस पुरुष के न तो कुल-वंश का कोई पता है, न ही घर-परिवार का। उनकी धन-सम्पदा का अनुमान इसी से लगा सकती हो, कि वह दिग्म्बर हैं, नंगे धूमते हैं। कभी-कभी वस्त्र के नाम पर व्याघ्रचर्म या हस्तिचर्म लपेट लेते हैं। इस अशुभ व्यक्ति में तुम्हारा पति बनने की एक भी योग्यता नहीं है।" (पंचम सर्ग)

अपने अभीष्ट पति के विषय में लीला-ब्रह्मचारी की विपरीत बातें सुनकर पार्वती जी क्रोध से काँपने लगीं, फिर उन्होंने धीरतापूर्वक शिव के बारे में ब्रह्मचारी द्वारा कही गई एक-एक बात का तर्कपूर्ण ढंग से जोरदार खंडन किया और ब्रह्मचारी की दृष्टि में शिव के जितने वैपरित्य थे, उन्हें सम्मत और अनुकूल सिद्ध किया। पार्वती जी ने भर्तना के स्वर में कहा कि तुम्हारे जैसे मूर्ख लोग ही महापुरुषों के चरित्र से अकारण द्वेष करते हैं; क्योंकि उन्हें उनके वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं रहता है—

उवाच चैनं परमार्थतो हरं  
न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।  
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं  
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥ (5.75)

पार्वती जी अपने लीलाशिव शिव की 'अलोकसामान्यता' और 'अचिंत्यहेतुकता' को लक्ष्य किया था, इसलिए स्वयं लीलाशिवी उन्होंने सर्वथा अविचलित भाव से लीला-ब्रह्मचारी को अपने मनोभाव के अन्तिम निष्कर्ष से अवगत कराते हुए कहा—

अलं विवादेन यथाश्रुतस्त्वया  
तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।  
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं  
न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥ (5.82)

अरे ब्रह्मचारी! मैं इस प्रकार के विवाद की कोई आवश्यकता नहीं समझती। शिव जी के विषय में तुमने जैसा कहा है, वह यदि बिल्कुल ठीक भी हो, तो भी मेरा मन एकमात्र उनमें ही रमा हुआ है। प्रेम करने वाला कभी निन्दा से नहीं डरता।

विन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

पार्वती जी ने अपनी बात समाप्त करते हुए कहा कि “जो महापुरुषों या बड़ों की निन्दा करते हैं, केवल वे ही पाप के भागी नहीं होते, अपितु निन्दा सुनने वाले भी पाप के सहभागी होते हैं।”

पार्वती जी के इस कथन से ब्रह्मचारी भगवान् शिव के बारे में और कुछ विरुद्ध वचन बोलता, उसके पूर्व ही पार्वती जी वहाँ से चली गई।

स्मृतिकारों ने कहा है कि जहाँ गुरुजनों की निन्दा होती हो, वहाँ अपने कान बन्द कर लेने चाहिए या वहाँ से अन्यत्र चला जाना चाहिए।

गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।  
कर्णों तत्र पिधातव्यै गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

पार्वती जी ज्यों ही वहाँ से चलीं, त्यों ही लीलाधारी शंकर जी ने अपना वास्तविक रूप धारण किया और मुस्कराते हुए उन्हें यह कहकर जाने से रोक दिया—

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गिं तवास्मि दासः  
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।  
अहाय सा नियमजं क्लतमभुत्सर्ज  
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधन्ते॥ (5.86)

अर्थात्, हे नतांगी, मैं तुम्हारे तप द्वारा खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ।’ ऐसा शिव जी के कहते ही पार्वती जी ने तपस्या द्वारा प्राप्त अपना सम्पूर्ण क्लेश तत्क्षण भुला दिया। और, अपने विराकांक्षित पति को प्रत्यक्ष देखकर और उनकी इस प्रकार की आश्वस्तिपूर्ण बात सुनकर प्रसन्न हो गई। क्योंकि, अभीष्ट फल की प्राप्ति से क्लेश मुरझाए मन को फिर से हरा कर देता है।

इस कथा-प्रसंग से शिव के लीला-तत्त्व के सन्दर्भ में महाकवि कालिदास की यह केन्द्रीय भाव चेतना उद्भावित होती है कि लीलोत्सुक शक्ति और शक्तिमान् की लाला अलोक-सामान्य और अचिनय-महिमावाली होती है। महाकवि द्वारा उपन्यस्त भगवान् शिव और भगवती पार्वती की यह लीला-कथा परमार्थतः जागतिक सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और लय की ही अकथ कथा है।

## कामायनी : मुक्तिबोध और सभ्यता-विमर्श

विजय बहादुर सिंह\*

‘कामायनी’ लिखी गई 1935 में। इस बीच प्रसाद निरन्तर राजयक्षमा की चपेट में रहे फिर भी जीवन और जगत के विराट प्रश्नों से जूझते हुए आनन्दवाद और समरसता के प्रति अपनी आस्था में अविचल और दृढ़ भी रहे। 1937 में लगभग दो साल बाद कामायनी भारती भंडार प्रयाग से छपकर आई और इसी वर्ष प्रसाद गुजर गए। लगभग वैसी ही तो स्थिति में—जब मुक्तिबोध जीवन की अन्तिम साँसें ले रहे थे, 1964 में तो उनका महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य-संकलन छप रहा था। इसमें भी क्या शक मुक्तिबोध के लिए छायावादियों में सबसे स्फूर्हणीय, प्रिय और महान कवि प्रसाद थे। कहना चाहिए उनकी चेतना के रोम-रोम में भिंदे थे।

‘कामायनी’ पर पहली महत्वपूर्ण समीक्षा सितम्बर 1937 में ही आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की छपकर आई। नवम्बर 1937 में प्रसाद जी के काव्य-व्यक्तित्व पर लिखते हुए वाजपेयी जी ने लिखा—प्रसाद जी अपने युग के सबसे पौरुषवान कवि थे। मैथिलीशरण जी का काव्य करुणा के रंग से ओत-प्रोत है शक्ति का संकल्पात्मक स्रोत उसमें उतना नहीं। ‘प्रिय प्रवास’ के हरिऔध जी के संगीत में पौरुष है, किन्तु अपने समय की संकोचशील प्रवृत्तियों की छाया भी उसमें पड़ी हुई है। ‘निराला जी’ का पौरुष नारी के स्नेह से नहीं, सम्मान से भी सम्बद्ध होने के कारण ‘रोमैटिक टाइप’ का है। सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में (मेरा मतलब उनके सर्वश्रेष्ठ ‘पल्लव’ काव्य से है) बाल्य-सुलभ स्निग्धता और निर्मलता है, किन्तु प्रसाद जी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियों दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं।<sup>1</sup> प्रसाद के कामायनी की मूल समस्या सर्वहारा का प्रजातन्त्र या साम्यवाद है या फिर सांसारिक जीवन में व्याप्त विषमता—यानी इच्छा, क्रिया और ज्ञान का विषम अनुपात, इसे जरा प्रसाद जी के शब्दों में ही देखें तो ठीक होगा—

\* विजय बहादुर सिंह 29, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म. प्र.), मो. 09425030392

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है  
 इच्छा क्यों पूरी हो मन की  
 एक दूसरे से न मिल सके  
 यह विडम्बना है जीवन की।

प्रसाद-काव्य के मर्मज्ञ आलोचक नन्द दुलारे वाजपेयी लिखते हैं—“सामाजिक विचारणा में वे मिल की भाँति व्यक्तिवादी हैं और सामूहिक प्रगति-सम्बन्धी उन आदर्शों से अनुग्रेडित हैं, जो मध्य वर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमें स्वभावतः अल्पसंख्यक उच्च वर्ग और उसके हासोन्मुख संस्कारों के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। यूरोप में यही प्रगति ‘लिबरलिज्म’ के नाम से प्रसिद्ध हुई और अब भी जन-सत्तात्मक राष्ट्रों में आवश्यक परिवर्तनों के साथ प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण वर्ग-संघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन ‘यथार्थवाद’ का प्रसाद जी के साहित्य में केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसाद जी की मूल प्रवृत्ति ‘यथार्थोन्मुख’ ही है, किन्तु संकीर्ण अर्थ में ‘यथार्थवादी’ वे नहीं हैं। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसाद जी में हम नहीं पाते।<sup>2</sup>

तब भी मुक्तिबोध इस आलोचक को एकाधिक बार प्रतिपक्षी वकील की तरह आग्रहपूर्वक उद्घृत करते हुए यह स्थापित करने का उद्यम करते हैं कि प्रसाद रहस्यवादी हैं। रही ‘कामायनी’ की मूल समस्या तो क्या मुक्तिबोध के अनुसार सचमुच वही है जिसे वे समूची आलोचना में बगैर पूर्वपक्ष पर विचार किए उत्तर-पक्ष के रूप में रखते हैं? क्या सचमुच ‘कामायनी’ एक भौतिकवादी यथार्थवादी प्रतिज्ञाओं वाला काव्य है, जिसे मुक्तिबोध ने थोप-थापकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि प्रसाद जी मूलतः पूँजीवादी, सामन्तवादी और भोगवादी प्रवृत्तियों के होने के नाते सभ्यता की निगाह में एक प्रतिक्रियावादी कवि हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं—‘प्रसाद जी की विचारधारा पर भी सामन्ती छायाएँ कम नहीं थीं, वे उनके छायावादी व्यक्तिवाद में योग देती थीं तथा इस प्रकार उनकी अन्तर्मुखता को और अधिक घनीभूत करती थी।’<sup>3</sup>

मुक्तिबोध को इस बात पर भी गहरी आपत्ति है कि ज्ञान क्रिया और इच्छा के सामंजस्य के प्रश्न को आध्यात्मिक प्रश्न बना दिया गया है और अद्वैतवादी समस्या के द्वारा उसको सुलझाया गया है। वे लिखते हैं—ज्ञान-क्रिया-इच्छा के सामंजस्य का प्रश्न व्यावहारिक जगत का तथा मानव-मन का—दोनों का प्रश्न है उसे रहस्यवादी ढंग से हल नहीं किया जा सकता।<sup>4</sup>

मुक्तिबोध एक प्रकार से ठीक ही लिखते हैं कि ज्ञान-क्रिया-इच्छा के सामंजस्य का प्रश्न केवल बुद्धिवादियों का, केवल कवियों का, केवल सांस्कृतिक जनों का प्रश्न नहीं है, वह मनुष्य-मात्र का प्रश्न है।

मुक्तिबोध के इस कथन के सन्दर्भ में यह तो पूछा ही जा सकता है कि क्या लेखकों को तब किसी—‘राम राज्य’ अथवा ‘सेवासदन’ जैसे यूटोपियों की तरफ नहीं जाना चाहिए? अगर नहीं तो फिर स्वयं मुक्तिबोध ‘भूल-शुलती’ जैसी कविताओं में यह क्यों लिखते हैं कि ‘वह हमारी चेतना का रक्त-प्लावित स्वर, हमारी हार का बदला चुकाने आएगा?’

प्रसाद और कामायनी के सन्दर्भ में जिस एंटी-यूटोपिया की बात मुक्तिबोध कर रहे हैं उसका जवाब प्रकारान्तर से एक अन्य प्रतिबद्ध वामपंथी समाज विज्ञानी के शब्दों में पढ़ना ही उचित होगा—‘एंटी-यूटोपियाई आन्दोलन, जिसमें कहा जा रहा है कि यूटोपिया का अन्त हो गया है, उस नव-मध्यम वर्ग पर केन्द्रित है, जिसने अपना भविष्य नव-औपनिवेशिक व्यवस्था के साथ जोड़ दिया है। उसने नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरक शक्तियों को हाशिए पर डाल दिया है। लेकिन यह एंटी-यूटोपियाई आन्दोलन महानगरों में ही दिखाई देता है, महानगरों के बाहर जाने पर परिवर्तन की नई लहरों के उभार का संकेत मिलता है।

इस क्रम में हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ‘यूटोपिया’ शब्द भले ही बाहर से आया हो, आदर्श-समाज की कल्पना हमारे लिए कोई नई चीज नहीं है। गाँधी जी ने ‘मेरे सपनों का भारत’ के रूप में एक यूटोपिया दिया। उससे पहले विवेकानन्द ने मेरे ‘मेरे सपनों का भारत’ के रूप में एक यूटोपिया दिया।<sup>5</sup>

लेकिन मुक्तिबोध का मानस तो स्वतः औपनिवेशिक हो चुका था। उन्हें देश के भीतर व्याकुल किन्तु दबी हुई प्राण-शक्तियों की खबर विवेकानन्द, तिलक और गाँधी के बावजूद नहीं थी। वे तो आँख मूँदकर रुसी क्रान्ति और मार्क्सवाद के सपनों में डूब चुके थे। ऐसे ‘दिमागों’ पर विचार करते हुए समाजवादी विचारक किशन पटनायक लिखते हैं—‘औपनिवेशिक दिमाग नव-निर्माण की तकलीफ को बरदाशत नहीं कर सकता...भारतीय बुद्धिजीवी की असहायता और उसका क्लीवल्ट्य यहीं से उत्पन्न होता है।’<sup>6</sup> ऐसे ही बौद्धिकों के चरित्र पर विचार करते हुए पूरनचन्द्र जोशी लिखते हैं—आज का नव-मध्यमवर्ग अपने भोगवादी चरित्र के चलते नेतृत्व की भूमिका निभाने में असमर्थ हो चुका है और यही कारण है कि नैतिक रूप से भी जन-साधारण से उसका अलगाव बना रहेगा और बढ़ता रहेगा।<sup>7</sup>

## 2

इस पृष्ठभूमि पर जब हम ‘कामायनी’ को लेकर मुक्तिबोध के इन शब्दों को पढ़ते हैं तब क्षोभ तो होता है किन्तु आश्चर्य तो फिर भी नहीं होता—

वे लिखते हैं—‘कामायनी’ अपने युग का अवैज्ञानिक, असंस्कृत, अपरिष्कृत प्रतिबिम्ब है। यदि वह सुपरिष्कृत प्रतिबिम्ब होता, तो तत्कालीन समस्याओं का यथार्थ हल भी प्रस्तुत किया जाता। उसमें जनता का पक्ष भी ऊँचा उठता, तथा अधिक

मानवीय जनतन्त्रीय धरातल पर कथा की समाप्ति होती। ...प्रसाद जी का यह मन्तव्य कितना जन-विरोधी, कितना प्रतिक्रियावादी और कितना पूर्वाग्रहपूर्ण है, इसका अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। ...भाववादी आलोचकों (इशारा नन्द दुलारे वाजपेयी की ओर है) ने प्रसाद जी से आगे बढ़कर कामायनी का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्त्वों को प्रचलन्न कर दिया। उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध में हर तरह की ऊँचे किस्म की गलतफहमियाँ भी फैलाई। वे कामायनी की मूल समस्या को नहीं समझते<sup>8</sup>।

सही है छायावाद को लेकर मुक्तिबोध अपने समकालीन कुछेक साथी कवियों की तरह न तो हल्का-फुल्का भाव रखते हैं, न उपेक्षा का। उनका बौद्धिक व्यक्तित्व यह समझने को मजबूर रहता है कि काव्य-विशेष में जो जीवनानुभव व्यक्त किया गया है, उसका समाजैतिहासिक मूल्य क्या है? है भी या नहीं। एक स्वतन्त्र साहित्य-चिन्तक की तरह वे यह देखना चाहते हैं वह कैसे जीवन का आकाशी है, और वह भावी जीवन के लिए वरेण्य है या नहीं। यानी प्रत्यक्ष लोक जीवन में उसकी अवतारणा मंगलमय है या नहीं। दिक्कत उनके साथ सिर्फ यह है कि वे जिस ‘जीवन-स्वरूप’ को मंगलमय मान चुके हैं, उससे इतर अन्य कोई जीवन-रूप और दृष्टि उन्हें अकल्याणकारी लगती है। ‘कामायनी’ जैसे काव्य के विवेचन में उन्होंने यही किया है। एक अन्य अर्थ में वे बुद्धिवादी विचारक हैं जिसके मूल में पश्चिम का भौतिकवाद और कार्ल मार्क्स हैं। विपरीत इसके उनके कवि जयशंकर प्रसाद आनन्दवादी अर्थात् भाववादी हैं। इस आनन्दवाद के मूल में, प्रसाद का अपना जीवन-दर्शन भी है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। यह दर्शन मानता है कि अपनी सम्पूर्ण गतिशीलता में यह सृष्टि आनन्दमयी है। यों भी भारतीय दर्शन मानते हैं (बौद्धों के दुःखवाद के बावजूद) कि सृष्टि का अवतरण ही चिन्मय शक्ति द्वारा आनन्दमय है। यह तो मनुष्य है जो अपनी अपूर्ण अहंता के चलते इसके मूल स्वरूप को पहचान नहीं पाता और सब पर शासन करना चाहता है। जीतना चाहता है और अन्तः स्वयं को नियन्ता मान अन्यों को शासित करार करता हुआ एक दिन दुष्परिणाम भुगतता है। अन्यथा तो सभी समान हैं और सबकी अपनी-अपनी इयत्ता है। कामायनी के इड़ा सर्ग में मनु को जो नसीहतें दी गई हैं, वह इसी कारण हैं।

यह आनन्दवाद, बौद्धों के दुःखवाद की तरह भारत का अपना ही दर्शन है। प्रसाद इसी को साँस-साँस में जीते थे।

मुक्तिबोध के अनुसार, ‘प्रसाद जी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, पूँजीवाद के उपस्थित स्वरूप को ध्यान में रखकर व्यक्तिवाद को शासन-सत्ता से सम्बद्ध कर दिया।<sup>9</sup> तथापि मुक्तिबोध का यह सोचना तो है ही कि कामायनी में जिस भोगवाद की आलोचना की गई है वह अँगरेजों के जमाने का क्षयग्रस्त भारतीय सम्बन्ध वाद ही है। एक और आरोप जो कामायनी की सभ्यता-समीक्षा को लेकर वे

लगाते हैं वह यह कि कामायनी में प्रस्तुत जीवन-समीक्षा-चित्रों के अन्तर्गत शोषक-वर्ग के विरुद्ध जनता की अन्तिम विजय में अपनी आस्था प्रकट न कर सके। इसका कारण मुक्तिबोध की निगाह में यह कि ‘वे स्वयं जनता से दूर रहे, जैसा कि शासक वर्ग गरीब जनता से दूर रहता है।<sup>10</sup> मुक्तिबोध के इन विचारों पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए राम विलास शर्मा लिखते हैं—

‘मुक्तिबोध ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ में साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, भारतीय पूँजीवाद की व्याख्या करते हुए, इनसे साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हुए बहुत-सी उलझनों में फँस गए हैं...’<sup>11</sup> यह समझना भ्रम होगा कि प्रसाद जी का चिन्तन पूँजीपति वर्ग के सांस्कृतिक मार्ग गाँधीवाद पर चल रहा था। गाँधीवाद जहाँ जनता के क्रान्तिकारी उभार को दबाकर वर्ग-शान्ति और समझौते की राह पर चलता है, वहाँ प्रसाद जी वर्ग-शान्ति के बदले वर्गहीन समाज का आदर्श रखते हैं।...सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि गाँधीवाद जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध की बात करता है, वहाँ प्रसाद जी ने सक्रिय प्रतिरोध का आदर्श रखा है, शस्त्र उठाकर आतताइयों का विरोध करने का चित्र खींचा है।...’<sup>12</sup>

प्रसाद जी के लिए कलाकार सामाजिक संघर्ष में तटस्थ नहीं रहता। वह जनता और देश के प्रति सहानुभूति ही नहीं प्रकट करता, वह संघर्ष में भाग भी लेता है।<sup>13</sup>

इसी पुस्तक में वे बेहद आक्रामक होकर लिखते हैं—‘मुक्तिबोध पूजक सिद्ध करें कि ‘डरो मत अरे अमृत संतान’ आदि पंक्तियों में आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास का स्वर नहीं, हासमान व्यक्तिवाद का पराजय और कुंठ का स्वर है। किन्तु कुंठ का स्वर होता तो अब तक वे कामायनी को संसार का सर्वश्रेष्ठ काव्य सिद्ध कर चुके होते। प्रसाद का दोष यह है कि उनके साहित्य में हमारे राष्ट्रीय जागरण के स्पंदन सुनाई देते हैं।’<sup>14</sup>

इसका प्रमाण हमें आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के संस्मरण ‘व्यक्ति की एक झलक’ में मिलता है। प्रेमचन्द जी की शव-न्यात्रा में प्रसाद जी के साथ चलते हुए वाजपेयी जी को किसी व्यक्ति द्वारा कहा गया वाक्य—“मालूम होता है कोई मास्टर मर गया है” जब दुःखी और क्षुब्ध कर जाता है, प्रसाद जी उन्हें समझते हुए कहते हैं कि यहीं तो बनारसी रंग है। यानी अपने काम या कृति में आनन्द का अनुभव करना। प्रसाद जी ने आगे भी कहा—हम स्वयं कितनों के मरने की खबर रखते हैं...सब अपने में ही आनन्द पाते हैं...। इसी अनुभव को आधार बना वाजपेयी जी कहते हैं—मैं प्रसाद जी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ।’<sup>15</sup>

‘कामायनी’ के सन्दर्भ में अपना विचार रखते हुए वे लिखते हैं—‘काव्य का कथानक तो नए विज्ञान का उपयोग करता है उसे गति और विस्तार देता है, और इस विज्ञान-सम्मत विकास की सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन

का सुन्दर उपयोग किया है, उसी के अनुरूप ‘कामायनी’ में दो नारी चरित्र भी हैं—एक ‘श्रद्धा’ भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि, दूसरी ‘इडा, नए वैज्ञानिक विकास की प्रतीक। इन दोनों का सन्तुलन और समन्वय नवीन भारतीय संस्कृति को ‘कामायनी’ के कवि की नई देन है।’<sup>16</sup>

इन सब कथनों को दरकिनार करते हुए मुक्तिबोध नन्द दुलारे वाजपेयी को इसलिए बार-बार (देखिए ‘पुनर्विचार’ का दूसरा खण्ड) याद करते हैं कि उनकी साहित्यिक और दार्शनिक भाव-भूमि को विना नकारे उन पर और प्रसाद पर हमला किया जाना सम्भव न था।<sup>17</sup>

अपनी रचनावली के पाँचवें खण्ड में मुक्तिबोध लिखते हैं—‘कला तभी तक जीती-जागती रहती है जब तक कि लेखक का वर्ण्य-वस्तु के प्रति भावात्मक सम्बन्ध हो। जिस प्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है, उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है। भावानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है।’<sup>18</sup>

रचनावली : पाँच के ही तेईसवें पृष्ठ पर ‘साहित्य के दृष्टिकोण’ शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं कि यों तो ‘जीवन किसी दायरे में बैंध नहीं सकता। और जहाँ-जहाँ जीवन के प्रति सच्चाई प्रकट की गई है, वहाँ-वहाँ कला अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुई है। किन्तु जहाँ किसी ‘वाद’ या बौद्धिक विश्वास से जीवन को देखा गया है, वहाँ जीवन की ताजगी और उसका प्रवाह-संगीत लुप्त हो गया है।’ अगले ही पृष्ठ पर वे फिर लिखते हैं—‘जिस तरह सामाजिक व्यथा से जाग्रत मानवी आत्मा यथार्थवादी हो जाती है, उसी तरह अपनी सम्पन्न परिस्थिति में अपनी भावनाओं के मनोहर कोष से चेतन मानव-आत्मा भावना-प्रधान और कल्पना-प्रधान, जिसे रोमैटिक कहते हैं, हो जाती है। वास्तव में देखा जाए तो रोमांस और यथार्थवाद में केवल परिस्थिति का भेद है। यथार्थवादी भी उतना ही भावना-प्रधान, ओजमय हो सकता है जितना कि शैले। परन्तु उसका दृष्टिकोण बहिरुख है, बाह्य वास्तविकता के संघर्ष से उत्पन्न उसकी भावनाएँ हैं और रोमैटिक कलाकार के प्रति दृष्टिकोण अपने आन्तरिक जगत के प्रति है। वह स्वयं अपना ही कलाकार है।’<sup>19</sup>

इस पृष्ठभूमि पर प्रसाद जी एक जाने-माने रोमैटिक अगर हैं (न भी हों तो छायावादी तो हैं ही) तब मुक्तिबोध किस बौद्धिक तर्क के आधार पर प्रसाद से यह अपेक्षा करते हैं कि वे सभ्यता-दृष्टि के अपने आधारों और जीवनानुभवों को छोड़ उनके यथार्थवादी/भौतिकवादी विचार-पथ पर चल निकलते। आज मान लीजिए हम मुक्तिबोध जैसे विरल कवि से यह माँग करें कि वे अपने भौतिकवादी/यथार्थवादी पथ को छोड़ गाँधीवाद के आध्यात्मिक पथ पर आ जाएँ तो क्या सम्भव हो जाता? प्रसाद की अपनी सभ्यता-दृष्टि ही नहीं...उनका अपना सभ्यता-बोध भी था, जिसकी चतुराईपूर्वक उपेक्षा मुक्तिबोध ने की। वे कई-कई बार मनु की सारी दुर्बलताओं को प्रसाद की

अपनी-दुर्बलताओं के रूप में देखते हैं। यहाँ तक कि कामायनी की दुर्बलताओं को भी वे प्रसाद की दुर्बलताओं के रूप में देखते हैं। उनका वाक्य है—‘कामायनी की कमजोरी क्या है? वहीं जो प्रसाद जी की कमजोरी है। जिस प्रकार आँसू में उनका रहस्यवाद कृत्रिम प्रतीत होता है, उसी प्रकार कामायनी में मूल कथा का घुमाव भी मानव-सम्बन्धों के और मानव-चरित्रों के भीतर उद्घाटित होने वाली समस्याओं, सभ्यता-सम्बन्धी समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए, उनके हल के लिए, उन समस्याओं के क्षेत्र से ही पलायन किया गया है। यह पलायन उनके रहस्यवादी दर्शन ने कराया, जो दर्शन समस्याओं से व्यक्ति का छुटकारा तो कराता है, किन्तु बाह्य जीवन-जगत में स्थित उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता, उनका उन्मूलन नहीं करता।’<sup>20</sup>

प्रश्न यह, मुक्तिबोध चाहते क्या थे तो पढ़िए उन्हीं के शब्दों में—‘कामायनी की कथा का स्वाभाविक विकास-क्रम तो यह होना था कि पश्चाताप-दग्ध मनु, शासन-सूत्र पुनः अपने हाथ में लेकर, इडा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, जन-कल्याण का कार्य अग्रसर करते, ऐसे समाज की स्थापना करते जहाँ पूर्ण समता तथा पूर्ण साम्यावस्था विराजमान है, तथा जहाँ मानव-शक्तियाँ निरन्तर उत्कर्ष करती जा रही हैं। संक्षेप में मनु राजा से बदलकर वास्तविक लोक नेता बनते, जनता को अपनी उन्नति की अधिक-से-अधिक प्रेरणा देते, तथा समाज में जहाँ भी, जो भी अशिव, अमंगल और अकल्याणकारी है, उसे और उसको आविर्भूत करने वाली शक्तियों को दण्ड देते हुए उसका सदा-सर्वदा के लिए उन्मूलन कर देते। किन्तु प्रसाद जी ने वास्तविक जगत में मनु की आत्म-परिणति उपस्थित नहीं की और इस आत्म-परिणति का सामाजिक उत्थान में क्रियाशील योग नहीं बताया। वे बता ही नहीं सकते थे, क्योंकि उनका दर्शन जीवन-जगत की वास्तविक समस्याओं से अर्थात् मानव-सम्बन्धों की समस्याओं से, भले ही मनोवैज्ञानिक छुटकारा दिला दे, वास्तविक जीवन-जगत की उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता, क्योंकि उन समस्याओं से जो छुटकारा पाया गया है, वह वस्तुतः उन समस्याओं से पलायन का एक तरीका है।’<sup>21</sup>

इसमें तीन-चार बातें खास हैं—पहली यह कि प्रसाद रहस्यवादी हैं, इसीलिए पलायनवादी हैं। दूसरी कामायनी की कथा का विकास अस्वाभाविक है। तीसरी यह कि प्रसाद अपने स्वाभाविक रोमैटिक पथ पर क्यों चलते रहे?

एक मनोवैज्ञानिक अर्थ में मुक्तिबोध की व्याख्या सही भी हो सकती है जहाँ वे प्रसाद और मनु को अभिन्न मान लेते हैं—‘कामायनी का प्रधान-पात्र मनु प्रसाद जी की निगृह अन्तर्वृत्तियों का प्रतिनिधि है, कि जो अन्तर्वृत्तियाँ उन्होंने जन्मतः पाई और जो आगे चलकर विकसित और प्रबलतर होती गईं। संक्षेप में मनु प्रसाद जी का स्वयं (का) वह मन है, स्वयं का वह प्रवृत्ति-मंडल है, जिसने एक विशेष युग की विशेष समाज-श्रेणी में जन्म लेकर एक विशेष प्रकार के संस्कार और विकार प्राप्त किए।

संक्षेप में, इडा और मनु प्रसाद जी द्वारा अनुभूत बाह्य जीवन-जगत का तथा जन्मतः प्राप्त तथा संस्कारतः विवर्द्धित अन्तर्यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं।<sup>22</sup>

किन्तु इसके साथ ही वे यह कहना भी नहीं भूलते कि ‘प्रसाद जी का जीवन-संचरण व्यापक है।...आत्मा अन्त जीवन के...तथा बाह्य जीवन-जगत के, यथार्थ क्षेत्रों में समान रूप से, समान गति से, विचरण करती है। प्रसाद जी जहाँ कलाकार हैं, वहाँ उनका मनोमय जीवनबाह्य का जितना आकलन-विवेचन करता है, उतना ही अन्तस का भी आकलन-विवेचन। अन्तर्बाह्य यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि विश्लेषणमयी है। एक ओर समग्र जीवन-स्थिति को रूपक द्वारा बाँधने वाली उनकी अनुभूति है तो, दूसरी ओर, वही अनुभूति मन की सूक्ष्म तरंगों का सूक्ष्म विश्लेषण उनका अंकन करती है। संक्षेप में, प्रसाद जी में विश्व के महत्तम कलाकार के सभी गुण विद्यमान हैं। किन्तु वे गुण पूर्णतः परिपूर्ण और फलीभूत नहीं हो सके हैं। इसका कारण जहाँ उनकी निगाह में प्रसाद जी का व्यक्तित्व है।

यहाँ पहुँचकर पूछा जा सकता है कि मुक्तिबोध के ‘विचार’ क्या उधार के नहीं थे। स्वयं उनकी सभ्यता-कल्पना क्या मौलिक थी? अपनी फैटेसीपरक कविताओं में उन्होंने समाजवादी लोकतान्त्रिक हकीकतों का जो नंगा खाका खींचा है वह उनकी अपनी सभ्यता-समीक्षा के कितने अनुरूप है? कहीं वे अपनी जवानी के अतिजोश में प्रसाद के आनन्दवादी और आत्मवादी दुर्ग पर एक प्रतिबद्ध और हमलावर बौद्धिक की तरह तो चढ़ नहीं आए थे और प्रसाद की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर गोले बरसा रहे थे, बगैर यह विचार किए कि प्रसाद की प्रेरक और आधार-भूमि उनकी अपनी थी। कहीं से किराए पर या उधार ली हुई नहीं। मुक्ति-बोध को इस पर भी तो विचार इसलिए करना था कि वे स्वयं के रोजमरा के जीवन में एक सनातनी हिन्दू ब्राह्मण का जीवन जीते थे और भारत के तमाम मार्क्सवादी बौद्धिकों की तरह दोगली मानसिकता से ग्रस्त थे। वे ‘जनता का साहित्य’ तो लिखना चाहते थे पर जनता के लिए नहीं ही लिखना चाहते थे। वे मानते थे कि ‘जनता का साहित्य’ का अर्थ ‘जनता के लिए साहित्य’ से है और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टैंडर्ड प्राप्त कर चुकी हो।... जो लोग ‘जनता का साहित्य’ से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ में आए, जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है—वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है। वह फिलहाल अन्धकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उसको शिक्षा देनी होगी।’ आगे के पैराग्राफ में जरूर वे यह मानते हैं कि कुछ साहित्य तो जनता को प्रारम्भिक शिक्षा के लिए अवश्य लिखा जाना चाहिए। लेकिन बुनियादी तौर पर वे मानते हैं कि गम्भीर साहित्य और वाङ्मय ही जन-साहित्य और समाज को सुसंस्कृत करता है।

इस सन्दर्भ में दसवीं सदी के महान साहित्य-चिन्तक आचार्य राजशेखर कहते हैं—‘काव्य वह नहीं जो कुछ सहदयों के बीच सराहा जाए और उन्हीं में चुक जाए। काव्य वह है जो ग्वाल-बाल से लगाकर महिलाओं और बूढ़ों तक की जबान पर चढ़े। जन-जन तक पहुँचे, घर-घर में गूँजे।’<sup>23</sup> ‘तथापि मुक्तिबोध चाहते हैं कि ऐसा साहित्य रचा जाए जो जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है।’<sup>24</sup>

जनता क्या करती है, इस बारे में सोचते हुए ई.एम.एस. नम्बुदिरिवाद, जो स्वयं एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी और सी.पी.एम. के महासचिव थे, अपनी पुस्तक ‘कला, साहित्य और संस्कृति’ में लिखते हैं—‘सभी श्रेष्ठतम कलात्मक या साहित्यिक रचनाओं का सृजन प्रथमतः जनता ने ही किया।’ आगे की पंक्तियों में वे लिखते हैं—‘मन्दिर, मस्जिद, गिरजा असंख्य परिवर्तनों तथा संस्कारों के बाद इस लोक-संस्कृति द्वारा ग्रहण किए गए रूप के केन्द्र हैं।...जनता के प्रतिनिधि होने के नाते, उसके हितों के लिए संघर्ष करने वाले होने के नाते, हम हर उस चीज की कद्र करते हैं जिससे जनता को प्रेम है। बेशक हम जनता को बदलने की काशिश कर रहे हैं, उसे आगे ले जा रहे हैं, लेकिन इससे हम जनता से अलग नहीं हो जाते। जनता संस्कृति की निर्मात्री है।’<sup>25</sup> ये ही नम्बुदिरिपाद जब एक बार भेरे बुलावे पर कृपापूर्वक विदिशा आए तब व्याख्यान देते हुए खुली सभा में यह भी कहा कि जब वे केरल के मुख्यमन्त्री बने तो गाँधी के स्वराज्य-सूत्रों को वहाँ की शासन-प्रणाली और सामाजिक-विकास को लागू किया। यह सब सोचते और लिखते हुए मुक्ति बोध शायद भूल ही गए कि मध्यकालीन अधिकांश सन्त पढ़े-लिखे नहीं थे। कवीर का साक्ष्य तो हमारे सामने ही है, सदना कसाई, रैंदास आदि तो बे-पढ़े-लिखे लोगों में ही आते हैं, पर इन्होंने जिस चेतना और संस्कृति का निर्माण किया, वह भारतीय जनता की मूल्यवान सम्पदा आज भी है।

मुक्तिबोध सर्जक प्रसाद के प्रति कितने मुग्ध थे, इसका प्रमाण रचनावली के पाँचवें खण्ड में होता है। वे लिखते हैं—‘प्राचीन आर्य-बौद्ध कालीन वातावरण की अवधारणा जो प्रसाद के साहित्य में हुई, वह एक आकस्मिकता न थी, कवि की नूतनावेषी रुचि का परिणाम न थी। उसका सम्बन्ध था ठीक उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से जिसको मैथिलीशरण ने एक प्रकार से ग्रहण किया। प्रसाद ने दूसरे प्रकार से।’ प्रेमचन्द के गड़े मुरदे उखाड़ने वाली प्रतिक्रिया से सर्वथा अलग खड़े होकर वे कहते हैं—‘वह अतीतोन्मुखी स्वप्नवादी प्रवृत्ति न थी जिसके द्वारा प्रसाद का साहित्य अवतरित हुआ, न वह पलायनवादी मनोभूमिका थी जिसने आर्य-बौद्ध कालीन वातावरण को उपस्थित किया, न वह नियतिवादी अधोमुख प्रवृत्ति थी जिसने उन्हें कहानियों और नाटकों में उषःकालीन आर्य-बौद्ध संस्कृति की समस्त स्फूर्तिमय ताजगी

और आत्मविश्वास की ओर प्रेरित किया। यदि उपरिलिखित कारणों में से किसी एक का भी यह कार्य होता तो प्रसाद के नाटक, कहानी और काव्य में जहाँ-जहाँ भी आर्य-बौद्धकालीन वातावरण उपस्थिति हुआ है, वहाँ-वहाँ औदास्य, आत्मरति, विश्वासहीनता तथा वातदुष्ट (न्यूरोटिक) मानस की प्रतिच्छाएँ देखने को मिलतीं। इसके विरुद्ध, जहाँ-जहाँ भी वह वातावरण उपस्थित हुआ है, वहाँ प्रसाद की भावना में गरिमा, जीवन के विवेकशील आदर्श तथा उसके श्रेष्ठ मूल्य और विचारों में ताजगी, स्फूर्ति तथा बल देखने को मिलते हैं। यदि उनके पूरे साहित्य को देखा जाए (जो हमारे विषय के बाहर है) तो हम पाएँगे कि नियतिवाद, पलायनवाद आदि दोष अपने कण-रूप में ही उपस्थित हैं। उन दोषों के सबल कारण हैं जिनका विवेचन आगे किया जा सकता है। परन्तु उनके सम्पूर्ण साहित्य की प्रधान विशेषताओं में से वह नहीं है। जिसने मात्र इन दो दोषों को उनकी प्रधान विशेषताएँ माना है, उसने प्रसाद, उनकी प्रेरणा, उनकी शक्ति और सीमा को नहीं पहचाना।<sup>26</sup>

“...प्राचीन भारतीय वातावरण के ये चित्र, ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में ही क्यों न अवतरित हुए हों, अन्ततः वे मात्र वृहत मनश्चित्र (फैटेसीज) हैं जिनके माध्यम द्वारा व्यक्तिवादी सांस्कृतिक उत्थान की आकांक्षाएँ और समस्याएँ प्रकट हुई हैं। उनकी लोकप्रियता और सर्व-जन-संवेद्य सौन्दर्य का रहस्य यही है कि एक और वे नवीन व्यक्तिवादी सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकताओं और मूल्यों की न केवल प्राचीन युग के भव्य गौरव-चित्रों के देह में आधुनिक आकांक्षाओं और समस्याओं (की) प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं, वरन् वे इस युग के मूल्यों को उन वातावरण-चित्रों के द्वारा इस प्रकार उपस्थित करते हैं मानो ये आकांक्षाएँ और मूल्य आदि काल से चली आ रही हों, अर्थात् इस युग की आवश्यकता-आकांक्षाओं को एक नया ऐतिहासक औचित्य प्रदान करते हैं।”<sup>27</sup>

यही मुक्तिबोध ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ में हमें भिन्न भूमिका में मिलते हैं। प्रायः अपने ही कथन—साहित्य का समाज से सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है<sup>28</sup>—को सर्वथा भुलाकर।

कामायनी को लेकर मुक्तिबोध जो सभ्यता-समीक्षा कर रहे थे वह बेहद सिद्धान्तवादी और कहना चाहिए यान्त्रिक है। प्रसाद जिस सभ्यता के स्वप्न में खोए हुए थे वह वर्गीन समाज वाले सपने से एकदम अलग था। उसकी प्रास्थनिक भूमियाँ नवजागरण-काल से तो सम्बद्ध थीं ही, उसके दार्शनिक आधार और कवि की जीवन-दृष्टि भी एकदम से अलग थी जिसका खुलासा आचार्य वाजपेयी एवं राम विलास शर्मा की आलोचना करती है। निश्चय ही वह एक साहित्य-समीक्षा है जो मानती है कि कविता या साहित्य-सृजन की कोई भी कृति हो, उसे उसकी मूल प्रेरणा-भूमि, भाव-भूमि, जीवन-दर्शन और दृष्टि से देखना ही तर्क-संगत है। यों कोई चाहे तो अन्य किसी दृष्टि से भी देखे पर उसे काव्य-न्याय का ख्याल तो रखना

पड़ेगा। स्वयं मुक्तिबोध कहते हैं—‘एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है।’<sup>29</sup> आश्चर्य होता है, मुक्तिबोध ने फिर भी अपनी कामायनी सम्बन्धी समीक्षा में इन बातों का ख्याल क्यों नहीं रखा? क्यों उन्होंने सभ्यता-समीक्षा के नाम पर ऐसा किया जहाँ ‘साहित्य-सृजन की मूलाधार वास्तविक मानव-भूमि से सम्बन्ध त्याग करके अपने-आप में स्वं पूर्ण-सम्पूर्ण बनकर उपस्थित हुए ‘तथा पांडित्य का चंडत्व और चिन्तन की चतुरता बताते हुए सैद्धान्तिक शब्दावली में अपने-आपको स्थापित करने’ की कला (?) प्रदर्शित की?<sup>30</sup> तब क्या उन्हें उनके ही शब्दों में याद करना समुचित न होगा—‘ऐसे समय समीक्षक का उद्देश्य लेखक से परस्पर संवाद करना, आत्मीय आधार पर विचार-विनिमय करना, एक-दूसरे का परिज्ञान करना नहीं है, वरन् कुछ और है। वह अपनी मूलभूत सच्चाई और ईमानदारी के उष्ण और आलोकपूर्ण प्रकाश में लेखक के हृदय को जीतना नहीं चाहता, वरन् अपने-आपको उससे महत्वपूर्ण समझते हुए, अथवा उसे भटका हुआ समझते हुए, अपने अस्तित्व के महान औचित्य को स्थापित करना चाहता है।’

सच (यह) है कि लेखक महापुरुष बनकर पैदा नहीं होता, वह आदर्शवादी, अध्यात्मवादी, साम्यवादी बनकर नहीं जन्मता। वह अपने सामाजिक वातावरण में साँस लेकर अपने परिवेश से प्रतिक्रिया करता है।<sup>31</sup>

मुक्तिबोध ने यह भी लिखा है—‘समीक्षक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह किसी भी कलाकृति के अन्तर्तत्वों को—उसके प्राण-तत्त्वों को—भावना-कल्पना को हृदयंगम करे और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अन्तर्धर्मा की गति को और उसकी अन्तिम परिणति को सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरान्त उसका विश्लेषण करे।’<sup>32</sup>

इसमें क्या शक कि मुक्तिबोध में ईमानदारी की कमी नहीं है। पर वे प्रसाद और उनकी कामायनी को उसके मूलाधार से काटकर उसकी समीक्षा करने पर किसी प्रतिपक्षी पण्डित के रूप में न केवल उपस्थित होते हैं बल्कि अपने ही शब्दों में ‘पाण्डित्य’ का ‘चण्डत्व’ प्रदर्शित करते हैं।

आधुनिकता और भारतीयता पर धर्मयुग (मुम्बई 1964) के पन्नों पर आचार्य वाजपेयी, यह कह रहे थे कि हमारे लिए आधुनिकता का सन्दर्भ और अर्थ राष्ट्रीय परिवेश में ही है न कि पश्चिम की पूँजीवादी और समाजवादी सभ्यताओं में। ‘राष्ट्रीय साहित्य’ शीर्षक अपने लेख में लिखा—‘अपने केन्द्र में स्थित रहकर एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्म सात कर ली...’ बुद्ध और गाँधी तक से प्रेरणा और दृष्टि लेकर ही हम भारतीय लेखक होने का दावा कर सकते हैं।<sup>33</sup>

अस्सी और नब्बे के दशक में ये ही बातें ख्यात सांसद और राजनीतिकर्मी किशन पटनायक और प्रसिद्ध समाजविज्ञानी पूरनचन्द्र जोशी क्रमशः अपनी पुस्तकों—‘विकल्पहीन नहीं है दुनिया’ और ‘परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम’ के पन्नों पर कह रहे थे। किशन पटनायक तो आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी को गुलाम, दोगली मानसिकता वाला और मौलिकता से हीन कह ही रहे थे, पूरनचन्द्र जोशी अपनी किताब में रवि ठाकुर को उद्घृत करते हुए कहते हैं कि मात्र पश्चिम को दोहराना (mere reproduction of west) भारत को नहीं स्वीकारना चाहिए। रवि ठाकुर को उद्घृत करते हुए वे लिखते हैं “जो मात्र आधुनिक है—जैसे विज्ञान और संगठन के उपाय—उसका तो स्थानान्तरण किया जा सकता है, लेकिन वह जो सचमुच मानवीय है, उसके रेशे इतनी बारीक हैं, जड़ें इतनी गहरी हैं कि उसे उसकी जमीन से हटाने पर वह मर जाता है। इस सन्दर्भ में भारत को सौचना होगा कि ये ऐसे विराट प्रश्न हैं जो पश्चिमी सभ्यता ने संसार के सामने रखे हैं, लेकिन जिनका सन्तोषप्रद जवाब पश्चिम पूरी तरह नहीं दे पाया है।”<sup>34</sup> आज जब स्वतन्त्र भारत, आधुनिक सम्प्रेषण की क्रान्ति के साथ आधुनिक आर्थिक क्रान्ति के पथ पर अग्रसर हो चुका है, क्या प्रतिदिन एक ही प्रकार का विविधता-शून्य, सांस्कृतिक भोजन परोसा जाएगा?

इसी पुस्तक में जोशी जी लिखते हैं—‘रवि ठाकुर और महात्मा गाँधी तकनीकी दृष्टि से पिछड़े देश के प्रतिनिधि थे, लेकिन उन दोनों का महान व्यक्तित्व ही इस सत्य का जीवन्त प्रमाण बन गया है कि मनुष्य अपनी नैतिक महानता में तकनीकी पिछड़ेपन की सीमाओं को लाँघकर तकनीकी दृष्टि से उन्नत देशों के लिए भी प्रकाश का स्रोत बन सकता है। महात्मा जी और रवि ठाकुर दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से यह बताने की कोशिश की कि तकनीकी विकास को ही सांस्कृतिक विकास मान लेना कितनी धातक भूल होगी।’<sup>35</sup>

यह तो रवि ठाकुर ने ही कहा था—“हम किसी जीवन-पद्धति की नकल नहीं कर सकते। हम अधिक समय तक नकली शक्ति के सहारे जिन्दा नहीं रह सकते। मात्र अनुकरणशीलता दुर्बलता का स्रोत है, क्योंकि यह हमारे असली स्वभाव के विरुद्ध है। यह हमेशा हमारे गास्ते में आ जाती है...।”<sup>36</sup>

## सन्दर्भ

1. नन्द दुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ. 20-21 पेपर बैक
2. जयशंकर प्रसाद नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ. 49 पेपर बैक
3. मुक्तिबोध रचनावली : चार पृ. 223 पेपर बैक संस्करण
4. वही, पृष्ठ 245
5. पूरनचन्द्र जोशी—यादों से रची यात्रा : विकल्प की तलाश; पृ. 222
6. किशन पटनायक—विकल्पहीन नहीं है दुनिया; पृष्ठ 142

7. पूरन चन्द्र जोशी—परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृष्ठ 18
8. मुक्तिबोध रचनावली, चार कामायनी : पुनर्विचार पृष्ठ 300-301
9. मुक्ति बोध रचनावली : चार पृष्ठ 253
10. वही, पृष्ठ 263
11. निराला की साहित्य-साधना : दो पृष्ठ 553 (पेपर बैक)
- 12-13. वही, पृष्ठ 555
14. वही, पृष्ठ 555
15. जय शंकर प्रसाद—नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ. 20-21
16. वही, पृ. 25
17. मुक्तिबोध रचनावली, पृष्ठ 207, 208, 209 पेपर बैक संस्करण खण्ड चार
18. देखें भारतीय साहित्य शास्त्र : गणेश शंकर देश पांडेय, पृष्ठ 23 (काव्य का आधार लोकानुभव है—भामह)
19. रचनावली : पाँच पृष्ठ 24 (पेपर बैक)
20. मुक्तिबोध रचनावली : चार पृ. 323 पेपर बैक
21. मुक्तिबोध रचनावली : चार पृ. 323-24 पेपर बैक
22. मुक्तिबोध रचनावली—चार पृ. 317-18
23. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा : राधा वल्लभ त्रिपाठी पृ. 102
24. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच पृष्ठ 75-पेपर बैक
25. कला, साहित्य और संस्कृति—नम्बुदिरियाद पृ. 105, 107
26. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच पृ. 40-41 पेपर बैक संस्करण
27. वही, पृ. 41
28. वही, पृ. 43
29. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. 207 (पेपर बैक)
30. मुक्ति बोध रचनावली : पाँच, पृ. 141 (पेपर बैक)
31. वही
32. वही, पृ. 139
33. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम—प. चं. जोशी, पृ. 89
34. नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली : पाँच, पृ. 392
35. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम—पृ. 91
36. वही, पृ.

## आधुनिक हिन्दी कविता का युगबोध

डॉ. शिवनारायण

आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करने से पूर्व ‘आधुनिक’ शब्द ध्यान आकर्षित करता है, जो कई कारणों से अनेक अन्तर्विरोधों से भरा है। प्राचीन कहाँ खत्म होता है और कहाँ से आधुनिक आरम्भ होता है, इसकी कोई निर्धारित सीमा-रेखा तो है नहीं! यदि यूरोपीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण को ही मानते हुए रेनेसां (पुनर्जागरण) को आधुनिकता का प्रारम्भ मानें, तो फिर हिन्दी साहित्य में पुराना कुछ भी बच नहीं पाएगा। यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों से सहमत होते हुए भारतेन्दु काल से आधुनिक काल का आरम्भ किया जाए तो बहुत-सी निरर्थक बातें समाविष्ट हो जाएँगी, क्योंकि भारतेन्दु युग भी अँग्रेजी साहित्य के चौसर युग की भाँति एक संक्रमण काल था और उसमें नई-पुरानी अनगिन प्रवृत्तियाँ परस्पर घुली-मिली थीं। इन दोनों से इतर यदि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल को आधुनिक युग मान लें, तो फिर बहुत-सी महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ छूट जाएँगी। इसलिए प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों की स्पष्टता को दृष्टिगत रखें तो हुए स्वर्णिम मध्य को अपनाते हैं तो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ को आधुनिक काल का प्रारम्भ मानना समीचीन जान पड़ता है। देखा जाए तो आधुनिक प्राचीन का निषेध न होकर उसके सतत विकास का ही अगला पड़ाव है और जिसमें उसकी प्रगतिगमी चेतना तो है, किन्तु नितान्त रूढ़िवादिता का निषेध भी। अस्तु!

आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करते हैं, तो इसके विकास का प्रथम चरण द्विवेदी युग माना जाता है, जिसने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के अन्तिम दशकों से ही छाई हुई साहित्यिक अराजकता को समाप्त कर एक निश्चित रूप-विधान किया, एक दिशा निर्देश दिया। इस काल में भारतीय समाज में अस्थिरता का दौर चल रहा था। अँग्रेजों के दमन के चलते जनता पिस रही थी। विद्रोह के स्वर उठ रहे थे, परन्तु एक सामान्य दिशा-निर्देश का अभाव था। साहित्य में भी इसी प्रकार ऊहापोह की स्थिति

सम्पर्क : 305, अमन अपार्टमेंट, शान्ति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना-800026;  
मो. 09334333509

बनी हुई थी। हिन्दी भाषा का कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया था। काव्य की उप-विधाओं में श्रेष्ठ साहित्य प्रायः नहीं रचा जा रहा था। हिन्दी कविता अभी शैशवावस्था में थी। इसी अनिश्चय के बातावरण में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य क्षितिज पर उदय हुआ। उन्होंने ‘सरस्वती’ पत्रिका के सम्पादक की हैसियत से सम्पूर्ण हिन्दी-जगत पर अपना सिक्का जमा दिया। उन्होंने खड़ी बोली के परिष्कृत रूप का प्रयोग किया। विभिन्न कवियों की भाषा शुद्ध हिन्दी के अनुसार उन्होंने ही परिष्कृत की। इस प्रकार शुद्ध खड़ी बोली और तत्सम् बहुल भाषा तथा इतिवृत्तात्मक शैली का निर्माण हुआ। इस युग के प्रमुख कवि थे—मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिओंध’, श्रीधर पाठक। मैथिलीशरण गुप्त का ‘साकेत’ जैसा महाकाव्य, ‘यशोधरा’, ‘भारत-भारती’, ‘द्वापर’ जैसी रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। किसी भी प्रकार का विकास ढन्द अथवा संघर्ष से होता है। जब द्विवेदी युगीन साहित्यिक परम्पराओं और पावन्दियों ने कविता को जड़वत् और नीरस बना दिया, उसकी नवीनता और रोचकता को समाप्त कर डाला तो काव्य-चेतना इस परम्परा से विद्रोह कर उठी। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषक भी समस्त समाज में छाई हुई थी। फलतः भय, निराशा, वेदना, तनाव, कुठा, अकेलापन आदि वैयक्तिक मनोविकार उत्पन्न हुए। भावुक कवि इन्हीं विचारों को आत्मसात कर लाक्षणिक भाषा में इन्हें व्यक्त करने लगे। विश्व की जटिलताओं, तनावों और संघर्षों से पलायन कर ये भावुक कवि प्रकृति के शान्त और स्वर्णिम परिवेश में किसी काल्पनिक आनन्दलोक का सुजन कर वन विहार करने लगे। जैसे क्लासिकल युग की जकड़बन्दियों से विद्रोह कर इंग्लैंड में रोमांटिक युग आया, उसी प्रकार भारत में द्विवेदी युग की स्थूलता और शास्त्रीयता के विरुद्ध छायावाद उठ खड़ा हुआ। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में—“राजनीति में साप्राज्य की अचल स्थिति और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता के कारण असन्तोष और विद्रोह की भावनाओं की बहिर्मुखी अभियक्ति का अवसर नहीं मिलता था। वे भावनाएँ अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे विचेतन में जाकर बैठ रही थीं। आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छाया-चित्रों की समष्टि का नाम ही छायावाद है।”

वैसे जयशंकर प्रसाद को छायावाद का प्रवर्तक और आधार स्तम्भ माना जाता है, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि छायावादी प्रवृत्ति की पहली कविता ‘जूही की कली’ निराला ने 1916 में ही लिख डाली थी। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी—ये छायावाद के चार स्तम्भ माने जाते हैं। इन छायावादी रचनाकारों की काव्य-कृतियों में आत्मनिष्ठा, छायावाद के चरमोत्कर्ष के ही युग में एक नवीन व्यक्तिपरक और पलायनवादी प्रवृत्ति सन् 1930 के आस-पास उभरी, जिसे हालावाद की संज्ञा दी गई। हरिवंशराय ‘बच्चन’, भगवतीचरण वर्मा, अंचल आदि इस धारा के प्रमुख कवि हुए। विशेषकर बच्चन के ‘मधुशाला’ और ‘मधु बाला’ को ज्यादा प्रसिद्ध मिली। इस प्रवृत्ति में जीवन की निराशा और कटुता को मदिरा की क्षणिक बेहोशी में भूलने का आमन्त्रण

दिया गया। परन्तु यह काव्यधारा बहुत अल्पजीवी रही और अपनी तमाम अच्छाइयों के बावजूद छायावाद ने जीवन के प्रति जिस व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को अपनाया, उसी के कारण अपनी लोकप्रियता खो बैठी। परिणामस्वरूप छायावाद दो दशकों में ही अपनी जिन्दगी जीकर समाप्त हो गया। सन् 1928 ई. में साइमन कमीशन का विरोध, गाँधी जी का सत्याग्रह, भगत सिंह को फाँसी आदि घटनाएँ देश के राजनीतिक रंगमंच पर घटने लगीं। फलतः राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को प्रेरणा मिली। इसी प्रकार 1934 ई. में समाजवादी दल की स्थापना, प्रगतिशील लेखक का गठन, साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई और अफ्रीकी देशों में विद्रोह तथा अन्य कारणों से प्रगतिवादी विचारधारा को प्रेरणा मिली। अतः जैसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से छायावाद अस्तित्व में आया था, वैसे ही सूक्ष्म के प्रति स्थूल के विद्रोह से कई छायावादोत्तर प्रवृत्तियाँ सामने आईं, जिसमें से दो प्रमुख हैं—राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी। राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रमुख कवि थे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह दिनकर। इसी प्रकार प्रगतिवाद भी एक प्रबल साहित्यिक आन्दोलन रहा जिसके प्रमुख उन्नायकों में से नागार्जुन, निराला, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, पन्त आदि थे। निराला की 'कुकुरमुत्ता', नागार्जुन की 'युगधारा', त्रिलोचन की 'धरती', भगवतीचरण वर्मा की 'भैसा गाड़ी' आदि इस युग की प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं। परन्तु, प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को प्रमुख स्वर दिया कविवर सुमित्रानन्द पन्त ने। 'युगान्त' लिखकर उन्होंने छायावादी युग के अन्त की विधिवत घोषणा ही कर दी। इस प्रकार 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि', आदि रचनाएँ लिखकर पन्त ने प्रगतिवादी आन्दोलन को बल प्रदान किया।

प्रगतिवादी कविता मानवीय चेतना को सामाजिक चेतना मानती है, व्यक्तिगत नहीं। मानवता की सेवा के प्रति उसमें असीम लगाव है। साहित्य में वह जन-साधारण दलितों, पीड़ितों, सर्वहारा की प्रतिष्ठा करती है, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति देती है तथा क्रान्ति की मशाल को प्रज्वलित कर जीवन के हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता का शंखनाद करती है। परन्तु, अपनी सारी क्रान्तिकारिता के बावजूद प्रगतिवाद ने सामाजिक जीवन का स्थूल और सपाट चित्रण किया तथा लोकयुद्ध के नाम पर केवल रूस और चीन का विजय गान और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्तुति मात्र की। अतः राष्ट्रवादी आन्दोलन या प्रगतिवादी विचारधारा कविमन को ज्यादा देर तक आकृष्ट नहीं रख सकी। इसी बीच छित्रीय विश्व युद्ध का काल (1939-1945) आया, इससे एक मानसिक पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। जीवन की अस्थिरता, मानवीय मूल्यों के हास, अलगाव, तनाव, निरुपायता, अराजकता आदि वातावरण पर छाने लगे। इसी प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की शिथिलता, राष्ट्रीय पैमाने पर कॉग्रेसी मन्त्रिमंडल का गठन और पतन आदि घटनाओं ने जन-मानस में एक क्षोभ उत्पन्न किया। यह विक्षोभ क्रोध, घृणा, उपहास, तीखापन, व्यंग्य, आत्मपीड़न,

झूँझलाहट, दिवास्वप्न, निरीहता आदि के स्वरूप में प्रकट हुआ। परिणामस्वरूप इसकी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति हुई प्रयोगवादी कविता के रूप में।

प्रयोगवाद के सूत्रधार थे अङ्गेय। उन्होंने 1943 ई. में 'तार सप्तक' का सफल सम्पादन किया, जिसके सात प्रतिष्ठित कवियों—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और 'अङ्गेय' की कविताओं को संकलित किया गया। 'तार सप्तक' का प्रकाशन ही प्रयोगवाद का उद्गम काल माना जाता है। इसके उपान्त अङ्गेय रचित काव्य संकलन—'इत्यलम्' (1946), 'हरी धास पर क्षण भर' (1949), तथा गिरिजा कुमार माथुर रचित 'नाश और निर्माण' आदि रचनाएँ प्रकाश में आईं। प्रयोगवादी कविता की विशेषताएँ हैं पीड़ा भाव का तीव्रता से व्यक्त होना, हासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज का चित्रण, आस्था, अस्तित्व बोध, दमित यौन-भावना का चित्रण, परिवेश के प्रति जागरूकता, अस्तित्व दर्शन इत्यादि। भौगोलिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'एक दीखने वाली मेरी इस देह में  
दो 'मैं' हैं।

एक मैं'

और एक मेरा पिट्ठू  
मैं तो खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ।

पर मेरा पिट्ठू है

वह जीनियस है।' (तार सप्तक, भारतभूषण अग्रवाल)

शब्द-योजना का वैचित्र्य प्रयोगवादी कविता में सर्वत्र पाया जाता है, प्रयोगवादी कवि बोलचाल की भाषा का प्रयोग कर अपनी बात को कहना चाहता है—

'जिस तरह हम बोलते हैं  
उस तरह तू लिख;  
और उसके बाद भी  
हमसे बड़ा तू दिख।'

इस प्रकार अपने अनूठापन और नवीनता के कारण प्रयोगवाद काफी लोकप्रिय हुआ, किन्तु प्रयोगवाद ने जो-जो सपने देखे थे, वे साकार नहीं हुए। प्रयोगवाद की शुद्ध तार्किकता, वायवीयता से जनता उबने लगी। लोग प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में समन्वय स्थापित करने की सोचने लगे। युग-चेतना, मानवतावाद और आत्मान्वेषण पर जोर मारने लगी। फलतः प्रयोगवादी कविता एक नए रूप में विकसित हो गई। इस नवीन गुणात्मक परिवर्तन को नाम दिया गया 'नई कविता'। 'नई कविता' का पदार्पण 1951 में 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ हुआ। इस सप्तक के सात कवि थे—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय

चिन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

और धर्मवीर भारती। बौद्धिकता से उत्पन्न अहंवाद, आत्म-अन्वेषण, निराशा, नियतिवाद, क्षणवाद, भोगवाद और शिल्प-वैचित्र्य नई कविता के लक्षण हैं। अनास्था, निराशा और पलायन की नई कविता में अभिव्यक्ति का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

‘अल्ला रे अल्ला  
होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला ।  
रुखे कर्म जीवन से उलझता न पल्ला  
चाहता न नाम कुछ  
मँगता न दाम कुछ  
करता न काम कुछ  
बैठता निठल्ला...अल्ला रे अल्ला ।’ (अज्ञेय)

प्रयोगवाद का ही एक नवीन संस्करण है प्रपद्यवाद या नकेनवाद। नकेनवाद तीन प्रमुख कवियों द्वारा प्रचलित किया गया ‘वाद’ है। ये तीन कवि हैं—नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश। प्रकृष्ट पद्य ही कविता है। इस मान्यता को प्रस्थान बिन्दु मानते हुए नकेनवादियों ने प्रपद्यवाद की बारह सूत्री घोषणा-पत्र निकालकर अपनी राजनीति और कार्यनीति घोषित की। नलिनविलोचन शर्मा रचित एक प्रपद्य का उदाहरण दिया जा रहा है—

‘सङ्क का यकृत खराब था  
उसे सुखड़ी हो गई थी  
टूँठ  
इसलिए मकानों की हो रही शल्य  
कपाल क्रिया,  
एक्सटेन्शन  
मुरादपुर में  
आस पा पास पा ताल के।’

परन्तु नई कविता के नूतन भाव-भाँगिमा के बावजूद, सृजनात्मकता के अभाव, विम्ब-विधान की प्रचुरता, वायवीयता, दुरुहता, आदि तत्त्व उसे लोक-अग्राह्य बना गए। इसी प्रकार शीत युद्ध की आशंका घोर यान्त्रिकता से उत्पन्न निराशा, चीनी आक्रमण, विज्ञान का उत्कर्ष, राजनीतिक उथल-पुथल और परम्परागत मूल्यों के हास आदि ने कविता की एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया, जिसे साठोत्तरी कविता कहा जाता है। साठोत्तरी कविता में नई कविता का ही विकास है। साठोत्तरी कविता में नई कविता के तत्त्वों जैसे—सन्त्रास, अस्तित्व संकट, याचना, टूटन को आस्थायुक्त व्यापक संवेदना से सम्पूर्ण कर अत्यधिक जीवन्त और प्रभावशाली बना दिया गया है।

**साठोत्तरी कविता प्रायः** 1960 के बाद लिखी गई कविताएँ हैं। अतः उसे यह विचित्र नाम दे दिया गया है। साठोत्तरी कविता के विविध उप-नाम दिए गए हैं जैसे—

युयुत्सावादी कविता, अस्वीकृत कविता, बीट कविता, प्रतिबद्ध कविता, सहज कविता, अकविता आदि। फिर भी, इतनी विभिन्नता के बावजूद साठोत्तरी कविता की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं जैसे—विम्ब से मुक्ति, सृजनात्मक विद्रोह, अत्यधिक बौद्धिकता का आग्रह, रागात्मक और सौन्दर्यवादी रुझान के प्रति विद्रोह आदि। डॉ. प्रभाकर माचवे, विमल पांडेय, श्रीराम शुक्ल, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, लीलाधर जगौड़ी, मुक्तिबोध, धूमिल आदि प्रमुख साठोत्तरी कवि हैं। मुक्तिबोध की रचना ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ और धूमिल की कृति ‘संसद से सङ्क तक’ इसी परम्परा की कविताएँ हैं।

अब हमारे सामने समकालीन हिन्दी कविता है। इस काल में राजनीतिक अस्थिरता, अतिभौतिकता का आग्रह, जीवन की टूटन, खिखराव, तृतीय विश्वयुद्ध की पल-पल आशंका, राजनीति का अपराधीकरण, आतंकवाद का प्रसार आदि घटनाओं से मानव की रागात्मक वृत्ति न्यून होती जा रही है और विचारात्मक वृत्ति विकास कर रही है। फलतः विचार-प्रधान गद्यात्मक साहित्य विधाओं का विकास ज्यादा हो रहा है। परन्तु, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मानव की रागात्मक वृत्ति ने अपना स्वरूप बदल लिया है। आज इसकी व्यक्तिगत चेतना की परिधि में सामाजिक संवेदना भी आ गई है। इसीलिए गजलों और गीतों का विकास हो रहा है। हिन्दी गजल और नवगीत इस काल की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। हिन्दी गजलकारों में गुलाब खंडेलवाल तथा दुष्यन्त कुमार उल्लेखनीय हैं। दुष्यन्त कुमार ने हिन्दी गजलों का लोकप्रियता को चोटी पर पहुँचा दिया। इसी प्रकार शम्भुनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र, श्रीकान्त जोशी, राजेन्द्र सिंह, विन्ध्यवासिनी दत्त त्रिपाठी आदि प्रसिद्ध नवगीतकार हैं। इनके गीतों में समसामयिक संवेदना के साथ अन्तर्मन की अभिव्यक्ति का भी चित्रण है।

इसके साथ ही समकालीन कविता में शिल्प, छन्द के नए-नए प्रयोग भी मिल रहे हैं। वस्तुतः समकालीन कविता एक संकटकाल से गुजर रही है, वह अँधेरे में अपना मार्ग ढूँढ़ रही है। देर-सबेर उसको मार्ग मिल जाना ही है और वह राजमार्ग अत्यन्त प्रशस्त, प्रकाशमान और प्रगतिमय होगा।

सत्य तो यह है कि आज विचारात्मक वृत्ति विकासमान है और रागात्मक वृत्ति हासोन्मुख है। कारण है कि भौतिकता के दुराग्रह की वजह से मानवीय संवेदना प्रदूषित होती जा रही है, इसके दुष्परिणाम भी सामने आते जा रहे हैं। मानवता एक घोर संकट से होकर गुजर रही है। शीघ्र ही रागात्मक वृत्ति का सुहावना सूर्योदय होगा। संवेदनीयता एक नई वेश-भूषा के साथ पुनः प्रकट होगी, अति भौतिकता का दुराग्रह समाप्त होगा और मानवीय चेतना की असीम गहराइयों में जाने की शाश्वत ललक पुनः जीवन्त हो उठेगी। सिर्फ तभी वह सुनहला संसार पैदा होगा, जिसमें कविता जागती है। आनेवाला युग हिन्दी कविता के विकास का ही युग होगा। कविता कभी मिट नहीं सकती। कविता हमारी आत्मा की साँस है, दिल की धड़कन है और जीवन का स्पन्दन है।

## पाठशाला-शिक्षा : स्थिति और परिस्थिति

रमेश दवे\*

प्रचलित शब्द ‘स्कूल-शिक्षा’ से हटकर पाठशाला-शिक्षा कहने का यहाँ एक खास सन्दर्भ है। जब शिक्षकों के एक समूह से चर्चा करते हुए अमरीकी शिक्षाविद् जार्ज डेनीसन ने सवाल किया कि ‘आप किन्हें पढ़ाते हैं?’ तो शिक्षकों का उत्तर था, ‘बच्चों को’। डेनीसन ने कहा—यह एक बड़ा झूठ है। अधिकांश शिक्षक बच्चों को नहीं, पाठों को पढ़ाते हैं। पाठों को पढ़ाने वाली शाला का नाम भारत ने ‘पाठशाला’ रखकर डेनीसन के तर्क की पुष्टि सदियों पूर्व कर दी थी।

आज ‘स्कूल’ सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। स्कूल विचार का जन्मदाता माना जाता है। इसलिए ‘स्कूल ऑफ थॉट’, ‘स्कूल ऑफ स्टडीज’ जैसे शब्द उपयोग में लाए जाते हैं। इसका क्या यह मतलब नहीं कि पाठशाला अर्थात् प्रचलित स्कूल न विचार की जगह है और न बच्चों या विद्यार्थियों की, बल्कि वह तो पाठों की जगह है, पाठ्यक्रमों की जगह है, प्रतियोगिता और परीक्षाओं की जगह है और यह जगह फैलते-फैलते विश्वविद्यालयों तक पहुँच गई है। स्कूल की बनावट ही ऐसी है कि वहाँ स्वतन्त्र विचार या चिन्तन हो ही नहीं सकता। स्कूल दिमाग को जड़ बनाने की जगह बनता जा रहा है। इसीलिए शायद इवान इलिच जैसे विचारक ने स्कूल भंग करने वाले समाज की कल्पना की थी। स्कूल जब दिमाग का इनडाक्रीनेशन या जड़ीकरण करता है तो स्पष्ट है कि यह जड़ता अनुशासन के नाम पर, यूनिफार्म के नाम पर, एक जैसी प्रार्थनाओं के नाम पर, एक जैसे पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तक और परीक्षाओं के नाम पर पैदा की जाती है। ऐसी तमाम स्थितियों को देखते हुए यह लगता है कि हमारी वर्तमान शिक्षा का इतिहास शिक्षा का कम और तरह-तरह की विचारधाराओं की कटूरता का इतिहास अधिक रहा है और इस शिक्षा ने हमारी सर्वव्यापी मानव संस्कृति को सर्वप्रथम प्रदूषित और विकृत भी किया है।

सम्पर्क : एस.एच. 19, ब्लॉक-8, सहयोगी परिसर, भद्रभदा रोड, भोपाल (म.प्र.); फोन-0755-2777048  
मो. 94065 23071 rameshdave12@rediffmail.com

खैर, अतीत पर आँसू बहाने और वर्तमान पर विलाप करने से फायदा भी क्या? हमारे देश में अँग्रेजों के आगमन और ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारम्भिक शासन में जहाज पर काम करने वालों की शिक्षा को लेकर सर्वप्रथम 1813 में एक लाख रुपया मंजूर किया गया था। बस, यहीं से भारत में नए स्वामियों के शिक्षातन्त्र का जन्म हुआ और भारत में जो जन-आधारित स्वतन्त्र शिक्षा-प्रबन्धन था, वह मिट्टे-मिट्टे सरकारी विभागों और स्कूली संस्थाओं में बदल गया। विडम्बना यह रही कि शिक्षा के इस विदेशीकृत स्कूल मॉडल के प्रवेश के बाद जब कम्पनी का शासन समाप्त करके ब्रिटिश राज का शासन कायम किया गया, तो सबसे पहले स्वेदशी-संस्थाओं को भंग किया गया, या वे स्वयं समाप्त होने लगीं। भारत की जन-आधारित स्वतन्त्र पाठशाला-प्रणाली को ध्वस्त कर दिया गया। संस्कृत और अरबी-फारसी शालाएँ या मदरसे, अँग्रेजी शिक्षा के नाम पर शहीद कर दिए गए। गाँधी जी ने भारतीय शिक्षा की जन और समाजोन्मुखी व्यवस्था को ‘दि ब्यूटीफुल ट्री’ कहा था। वह सुन्दर वृक्ष टहनी-टहनी काटकर फेंका गया। इस वृक्ष को काटने की कुल्हाड़ी राजा राममोहन राय जैसे दिग्गज ने भी थाम ली और अन्ततः वृक्ष की मौत हो गई और अँग्रेजी शिक्षा का अन्धायुग प्रारम्भ हो गया, जिसका विस्तृत विवरण डॉ. धर्मपाल ने अपनी पुस्तक ‘दि ब्यूटीफुल ट्री’ में साक्ष्य और अँग्रेजी-दस्तावेजों के प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया है।

कम्पनी-राज से भारत में आने वाली स्कूली-शिक्षा ने भारतीय शिक्षा, जो विद्या थी, का रूपक और रूप दोनों बदलकर रख दिया। हमारी पाठशाला, जो एक प्रकार से जनशाला या लोकशाला थी, वह एक तन्त्र बन गई, संस्था बन गई। संस्थायीकरण के दो बड़े नुकसान हैं — एक तो वह तन्त्र की तानाशाही पैदा करती है, दूसरे तन्त्र में भ्रष्टाचार का प्रवेश हो जाता है। शिक्षा और उसकी गुणवत्ता तो धरी रह जाती है, तन्त्र का आतंक छा जाता है और एक जन-शिक्षक सरकारी या संस्थायी नौकर बन जाता है। नौकर होना जड़ता की गुलामी होने के समान है। अँग्रेजों ने यह काम बड़ी ही चालाकी से किया। कम्पनी के भारतीय मजदूरों, कामगारों को पढ़े-लिखे नौकर बना कर शिक्षा से यह लालच पैदा किया कि शिक्षा सरकारी नौकरी का अवसर देती है। इसका मतलब, छोटी ही सही, मगर नौकरी से जोड़कर शिक्षा को संस्कार, दर्शन और पारम्परिक-संस्कृति से काटकर रोजगार का राजपथ बना दिया गया। शिक्षा का जनपथ नष्ट होने लगा और रोजगार के रथ पर सवार होकर शिक्षा राजपथ के इतिहास की सारथी बन गई। शिक्षा का यह प्रथम रोजगारीकरण था। जो शिक्षा भारत में आम लोगों को प्रारम्भिक ज्ञान के बाद आत्मनिर्भर बनने का आत्मविश्वास देती थी, उसके रोजगारीकरण से आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास के मूल्य मिट्टने लगे और मिट्टे-मिट्टे नौबत यह आ गई कि शिक्षा को रोजगारमूलक बनाने या उसके व्यवसायीकरण के नए-नए प्रयोग प्रारम्भ हो गए। व्यावसायिक मंडल और रोजगार दफ्तर कायम हो गए और इस प्रकार शिक्षा का एक समान्तर तन्त्र, रोजगार के नाम पर रख दिया गया।

कम्पनी ने बाबू बनाए, ब्रिटिश राज ने बाबू से लेकर अपने वफादार नौकरशाह बनाए और शिक्षा की लोक-व्यवस्था का अर्थ सरकार हो गया। कहा तो गया लोकसेवक, मगर अँग्रेजों ने लोकसेवक की जो मानसिकता रखी थी, वह हमारे समय में आते-आते लोक-मालिक या लुटेरों में बदल गई। सेवा का संवेदन पैदा ही नहीं हुआ और नौकरी से मेवा पैदा करने का भ्रष्ट आचरण दफ्तरी व्यवस्था में व्याप्त हो गया। यह अँग्रेजी शिक्षा के आगमन का ऐसा परिणाम था, जिसे हम आज तक बड़े पैमाने पर भोग रहे हैं।

आधुनिक शिक्षा के जो बीज अँग्रेज बो गए, उन्हें हमने ऐसे झाड़ में फैला दिया कि अब उसकी हवा पूरे देश को झकझोर रही है। अँग्रेजी शिक्षा ने जो भी दिया, कितना अच्छा, कितना खराब, लेकिन इतना जरूर हुआ कि शिक्षा का प्रसार उनके राज से शुरू हुआ था, वह अब देश की आबादी की लगभग अस्सी प्रतिशत साक्षरता से शिक्षा की छतरी के नीचे देश के लगभग साढ़े सात लाख गाँवों एवं बस्तियों को ला चुका है। उनकी शिक्षा का मॉडल हमने अपनाया तो जरूर, मगर स्कूली शिक्षा के सरकारी भारतीय मॉडल जैसी कोई बात बनी नहीं और उनका मॉडल भी अब महा मॉडल में बदल गया।

शिक्षा की आज तक की स्थिति पर गौर करने के लिए जरूरी है कि उपनिवेशकाल और उत्तर-उपनिवेशकाल या स्वतन्त्रता-पूर्व एवं पश्चात् की स्थितियों और परिस्थितियों पर विचार किया जाए। मुगलों के पतन के बाद मराठा राज्य के उदय की सम्भावना तो थी, मगर मराठे महादजी सिन्धिया के नेतृत्व में मुगल सम्राट का विकल्प नहीं बन सके। परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य तो उजड़ा ही, मराठे भी देशभर में देसी रियासतों के रूप में बिखर गए। डच, फ्रेंच, स्पेनिश, पुर्तगाली देश में आए, मगर वे एक सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य नहीं बना सके। यह काम अँग्रेजों ने चतुराई से किया और तमाम छोटे-मोटे युद्ध, संघर्ष और उपद्रवों के बाद अन्ततः 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद अँग्रेजी साम्राज्य के उदय के बाद स्थायी स्थापना का मार्ग खुल गया। शायद इतिहासकारों ने इसीलिए कहा है कि भारत में विदेशी साम्राज्य की स्थापना में तीन ‘प’ यानी पानीपत, प्लासी और पांडिचेरी महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुए और प्लासी ने तो अँग्रेजी-साम्राज्य की नींव ही खो दी।

उपनिवेश-पूर्व के शिक्षा-तन्त्र को देखें तो भारत में व्यवस्था तो थी, मगर उपनिवेशकाल की तरह शिक्षा का राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपीकरण या समान प्रबन्धन नहीं था। शिक्षा का उपनिवेश दफ्तरों, स्कूलों, पाठ्यक्रमों, परीक्षा बोर्डों, विश्वविद्यालयों के जरिए खड़ा किया गया और वर्ष 1813 के कम्पनी काल में एक लाख रुपयों के बजट से जो शिक्षा शुरू हुई थी, वह भारत में भारतीयों के टेक्स से, अँग्रेजी शिक्षा के समर्थकों से और प्रतिरोध-विहीन समाज के कारण उपनिवेश बनकर पूरे देश पर छा गई।

परिस्थितियाँ तो ऐसी पैदा हो ही गई थीं कि भारतीय पाठशालाएँ भंग होने लगीं और उनकी जगह उपनिवेशी स्कूल अपना अँग्रेजी माध्यम लेकर आ गए। स्कूल एक व्यवस्था की तरह आया और संस्था की तरह सर्वप्रथम बंगाल में छा गया। लोगों को भी स्कूली-शिक्षा में अपने बच्चों के रोजगार की तस्वीर नजर आने लगी। अँग्रेजी स्कूलों के पूर्व और वर्ष 1700 के आधे भाग से लेकर वर्ष 1800 के प्रारम्भ तक पूर्व-औपनिवेशिक शिक्षा का काल था। पूर्व उपनिवेशकाल में बंगाल में टोल, पश्चिम भारत में पाठशाला, दक्षिण भारत में प्योल, बिहार में चतुष्पन्थी और इसी प्रकार की अनेक पाठशालाएँ कार्यरत थीं। डॉ. धर्मपाल के अनुसार प्रत्येक चार सौ की आबादी वाले गाँव में समाज द्वारा संचालित पाठशाला होती थी। ये पाठशालाएँ हिन्दू ब्राह्मण-पंडित चलाते थे। बंगाल में चंडी मंडप में भी शिक्षा के लिए बच्चे एकत्रित होते थे। यहाँ विशेष रूप से पूजा-पाठ के लिए संस्कृत में शिक्षा दी जाती थी। दूसरी ओर मुसलमान, मौलियियों द्वारा संचालित अरबी-फारसी के मकतब और मदरसे थे जहाँ कुरआन, इस्लामिक कानून, साहित्य, व्याकरण, गणित, काव्य, प्राकृतिक दर्शन आदि की शिक्षा दस से बारह वर्ष तक दी जाती थी। कुछ ग्रामीण शालाएँ भी थीं, जिनमें दुकानदारों के लड़के, कारीगर, किसान आदि के बच्चे स्वदेशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करते थे। इन शालाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। चूँकि उस समय की कानून की भाषा फारसी थी, इसलिए हिन्दू-बंगाली बच्चे भी फारसी पढ़ते थे। बंगाल के जर्मांदार अपनी लड़कियों की शिक्षा का घर पर ही इन्तजाम करते थे।

इन परिस्थितियों में दी जा रही शिक्षा में एकदम बदलाव तब आया जब अँग्रेजों ने मिशनरी स्कूलों की स्थापना शुरू कर दी, जिनका मुख्य उद्देश्य अँग्रेजी माध्यम से भारतीय जनता को प्रभावित कर उनका धर्मान्तरण कर उन्हें इसाई बनाना था। इस प्रकार मिशनरी संस्थाओं के समूह-के-समूह बन गए। भारतीय शिक्षा-प्रणाली का तो संस्थायीकरण नहीं हुआ, लेकिन अँग्रेजी संस्थाएँ अनौपचारिक रूप से, बिना किसी राजकीय भूमिका के धड़ाधड़ कायम होने लगीं। ब्रिटिश सम्राट और देशी राजाओं ने शायद संगीत, नृत्य, चित्रकला एवं अन्य कलाओं को तो प्रोत्साहित किया, लेकिन शिक्षा को राजकीय विषय नहीं बनाया। कलाओं की शिक्षा के लिए कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं थी, बल्कि वह वाचिक परम्परा में, रटन के जरिए दी जाती थी। स्कूली शिक्षा में भी अभी किताबें नहीं आ पाई थीं। बच्चे स्लेट-पेन्सिल, चॉक और रेत में लिखने का अभ्यास करते थे। देसी पाठशालाओं के शिक्षकों को मामूली वेतन समाज या देसी राजाओं द्वारा दिया जाता था। तत्कालीन बम्बई राज्य में पेशवा और राजा-महाराजा चन्दा देकर देसी शालाएँ चलाते थे। शिक्षकों को तीन ‘आर’ अर्थात् रीडिंग, राइटिंग और गणित में शिक्षा देनी होती थी और एक शिक्षक के अधीन 15 से 35 बच्चे हुआ करते थे। बंगाल में हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त शालाएँ भी थीं।

विन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

डॉ. बेल ने सर्वप्रथम मद्रास (चेन्नई) में स्वदेशी किस्म का स्कूल स्थापित किया। मद्रास शब्द की उत्पत्ति ही बेल के मानिटोरियल प्रणाली से हुई। भारत के स्वदेशी स्कूल मॉडल को बेल ब्रिटेन में भी आजमाना चाहता था। बेल ने ब्रिटेन में भारतीय प्रणाली का प्रयोग करने के लिए भारत की पारम्परिक शालाओं का व्यापक अध्ययन किया था। डॉ. धर्मपाल ने सही कहा है कि भारत में जो पारम्परिक शालाओं का नेटवर्क मन्दिर, मस्जिद और सार्वजनिक चबूतरों पर चलता था, उससे शिक्षा खुले मैदान में अनौपचारिक अपने-आप बन गई और समाज की निगरानी में भी आ गई एवं समाज अपने दायित्व से भी जुड़ गया। जिस स्कूल नामक संस्था का प्रथम प्रयोग जर्मनी ने किया था, वह स्कूल पूरे योरप में व्याप्त हो गया था और उसी का एक औपनिवेशिक प्रोटो-टाइप भारत में भी स्थापित कर दिया गया। पारम्परिक संस्थाओं में जो ब्राह्मण-पंडित संस्कृत में और मौलवी मदरसों में अरबी-फारसी में शिक्षा देते थे, उनका विकल्प नए शिक्षकों से रचा गया और स्कूल शिक्षक नामक पद प्रारम्भ हो गया, जो अन्ततः सरकारी नौकरी का पद बन गया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सर टॉमस मुनरो ने जो अध्ययन किया था, उसके अनुसार वर्ष 1822 में पाँच से दस वर्ष के स्कूली बच्चे तत्कालीन आबादी का नौवाँ हिस्सा थे। दस मार्च 1826 को मुनरो ने अपने मिनिट्स में बताया था कि उस समय 12489 स्कूल थे, जिनमें 188650 बच्चे मद्रास प्रान्त में पढ़ते थे और उस समय प्रान्त की आबादी एक करोड़ अट्ठाइस लाख पचास हजार नौ सौ इकतालिस थी। वर्ष 1829 में ऐसा ही सर्वे बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवर्नर एलफिन्स्टन ने करवाया था और यहाँ 1705 स्कूलों में 35153 बच्चे थे और प्रेसीडेन्सी आबादी 4681735 थी। वर्ष 1835-38 में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बोटिक को मिशनरी विलियम एडम ने एक रिपोर्ट देकर बताया था कि बंगाल प्रेसीडेन्सी में आबादी के 7.8 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते हैं और स्कूलों की संख्या बंगाल-बिहार मिलाकर एक लाख थी अर्थात् प्रत्येक तीन गाँवों के बीच दो स्कूल थे।

अँग्रेजों ने स्कूल की स्थापना के साथ यह भी बताया था कि भारत में अठारहवीं सदी का अन्तिम भाग समाज के विघटन से भरा था।

वर्ष 1700 और 1800 के प्रारम्भिक वर्षों तक इंग्लैंड में शिक्षा राज्य का विषय नहीं था। वहाँ शिक्षा परिवारों में या चर्च में दी जाती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की भारत में शिक्षा देने के दायित्व में कोई रुचि नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के जो भारतीय कर्मचारी थे उनकी अँग्रेजी शिक्षा के लिए कम्पनी के अतिशेष राजस्व (सरप्लस राजस्व कर) से रुपए एक लाख खर्च करने की अनुमति ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी को दी थी, जिसका प्रावधान कम्पनी के चार्टर के बिन्दु 43 के अन्तर्गत किया गया था। इस घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया था कि यह पैसा उन अँग्रेजों के ज्ञानवर्धन, और अपने साहित्य के विकास पर लगाया जाए जो भारत में रह रहे थे और

कुछ धन भारतीयों पर खर्च किया जाए, साथ ही हर बीस वर्ष में इस चार्टर का पुनर्नवीकरण किया जाए।

इसके बाद वर्ष 1820 के दशक में तत्कालीन बम्बई, मद्रास और बंगाल प्रेसीडेन्सी में कुछ प्रयोग प्रारम्भ हुए। बम्बई प्रान्त में पूना संस्कृत कॉलेज वर्ष 1821 में शुरू किया गया। गवर्नर एलफिन्स्टन, जो स्वयं एक विद्वान व्यक्ति था, ने स्वदेशी शिक्षा का अध्ययन करवाया और सीमित शिक्षा व्यवस्था को व्यापक शिक्षा या लोक-शिक्षा में प्रसार के लिए व्यवस्था तैयार करने में मदद की। उसी के प्रयत्न से बाब्बे नेटिव एज्यूकेशन सोसायटी की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य आधुनिक शिक्षा की व्यवस्था करना था। इस कारण कम्पनी के निदेशक मंडल ने स्कूलों के लिए ग्रांट-इन-एड अर्थात् अनुदान देने की एलफिन्स्टन की सलाह पर काम शुरू किया। इस समिति ने बम्बई में चार संस्थाओं का ठाणे, पनवेल, पूना और बम्बई में इतिहास, भूगोल, खगोलशास्त्र, दर्शन, बीजगणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति जैसे विषयों के साथ पाठ्यक्रम और अध्यापन प्रारम्भ किया जो तीन ‘आर’ से आगे का मार्ग था और प्राथमिक से माध्यमिक स्तर पर ले जाता था। वर्ष 1840 तक 115 ऐसे स्कूल कायम तो हो गए, मगर 1825-26 में सोसायटी ने कम्पनी को यह रिपोर्ट दी कि भारतीय छात्रों के लिए विज्ञान, साहित्य, और नैतिक शिक्षा देने का अँग्रेजी माध्यम का यूरोपीय तरीका सुविधाजनक नहीं है। इसलिए स्थानीय भाषाओं को माध्यम बना दिया गया। एलफिन्स्टन के इस प्रयास से लोग खुश हो गए और वह जब 1827 में सेवानिवृत्त हुआ तो लगभग दो लाख रुपयों का फंड एलफिन्स्टन के नाम पर एकत्रित किया गया। इतनी ही राशि कम्पनी ने भी स्वीकृत की और 1840 के वर्ष में बम्बई में एलफिन्स्टन कॉलेज संस्था की स्थापना की गई और बम्बई नेटिव एज्यूकेशन सोसायटी की जगह शिक्षा मंडल कायम किया गया, जिसमें तीन भारतीयों को भी नामजद किया गया। बम्बई प्रान्त में इस कारण क्लासिकल भाषा सम्बन्धी विवाद ही समाप्त हो गया। वर्ष 1855 तक पूना संस्कृत कॉलेज और पूना इंग्लिश स्कूल या पूना कॉलेज को एक करके डेकन कॉलेज बना दिया गया और स्वदेशी भाषाओं के शिक्षण और ज्ञान को भी मान्यता दे दी गई। शिक्षा मंडल की स्थापना से एक नया रास्ता यह खुला कि शिक्षा-व्यवस्था के लिए लोक-शिक्षण संचालनालय बना दिया गया।

इस प्रकार बम्बई में पहला लोक-शिक्षण संचालनालय शुरू हुआ और शिक्षा की व्यवस्था एवं प्रशासन का दायित्व तब से जो शुरू हुआ था, वह अब भी जारी है। शिक्षा में सरकारी दफ्तरीकरण ने यहाँ से शैक्षिक भ्रष्टाचार की शुरुआत भी कर दी, जो अब देश-भर में वीभत्स रूप ले चुकी है।

बम्बई के अतिरिक्त मद्रास के गवर्नर टामस मुनरो ने भी स्वदेशी स्कूलों का अध्ययन वर्ष 1822 में करवाया और शिक्षा का बहुत ही निम्न स्तर पाया। उसने दस मार्च 1826 को अपने मिनिट्स में कहा कि स्वदेशी स्कूलों की स्थिति में सुधार किया

जाए और बेहतर शिक्षक रखे जाएँ। उसने हर जिले में दो स्कूलों की स्थापना की सिफारिश की, एक हिन्दुओं के लिए दूसरा मुसलमानों के लिए। उसने एक स्कूल तहसील या ताल्लुका में भी स्थापित करने के लिए पचास हजार रुपए प्रतिवर्ष खर्च का प्रावधान रखा। उसका प्रस्ताव 1828 में मान्य तो हो गया, मगर मुनरो का 1827 में ही निधन हो गया और तहसीलों में केवल सत्तर स्कूल ही कायम हो सके। स्कूलों के लिए स्वीकृत राशि खर्च नहीं की जा सकी और इस प्रकार वर्ष 1836 तक स्वदेशी स्कूल मद्रास प्रान्त से गायब ही हो गए।

बंगाल की स्थिति अलग थी। वहाँ वर्ष 1821 तक अतिशेष (सरप्लस) बढ़ गया और यह पहला प्रान्त था, जिसने इस धन के उपयोग के लिए कदम उठाए। मद्रास सरकार के सेक्रेटरी होल्ट मेकेंजी ने गवर्नर को लिखा कि यह राशि स्वेदशी एवं यूरोपीय दोनों ही स्कूलों पर खर्च की जाए। उसके सुझाव पर एक जनरल कमिटी ऑफ पब्लिक इस्ट्रक्शन 1823 में बनाई गई जिसके एक सदस्य एच.टी. प्रिन्सेप थे और उन्होंने मैकाले के विचारों का विरोध किया था।

जब सरप्लस राशि बढ़ने लगी तो तत्कालीन गवर्नर जनरल आकलेंड ने 1839-40 में एक प्रस्ताव पारित किया और शिक्षा पर खर्च की जाने वाली राशि के बारे में बहस शुरू की। वारेन हेस्टिंग और मिंटो संस्कृत, अरबी और फारसी शिक्षा के पक्ष में थे, लेकिन राजा राममोहन राय विज्ञान एवं अँग्रेजी की आधुनिक शिक्षा के पक्ष में थे। एक समूह ऐसा भी था कि विज्ञान एवं नए विषयों की शिक्षा केवल अँग्रेजी माध्यम में न होकर, भारतीय भाषाओं में भी हो।

अब आता है मैकाले का दौर। वर्ष 1813 के कम्पनी निर्णय के बाद ऐतिहासिक महत्व के साथ 1835 में आते हैं लॉ मेम्बर मैकाले के मिनिट्स, जो आधुनिक पश्चिमी शिक्षा और अँग्रेजी माध्यम के पक्ष में थे। मैकाले ने देसी भाषाओं में शिक्षा को निरस्त करते हुए इन भाषाओं को कमज़ोर और असम्य कहा। मैकाले के इन विचारों को इंग्लैण्ड में ट्रेवेलियन और जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी स्वीकार कर उसका समर्थन किया और भारतीय क्लासिकल साहित्य और शास्त्रों की शिक्षा के प्रति नफरत जाहिर की। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड बैटिंग ने मैकाले मिनिट्स स्वीकार करते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार का मकसद भारत में यूरोपीय शिक्षा देना है, विज्ञान और यूरोप का साहित्य पढ़ाना है, इसलिए स्वदेशी स्कूल बन्द किए जाते हैं। यही एंग्लिसिस्ट और क्लासिसिस्ट विवाद का कारण भी बना।

मैकाले मिनिट्स के बाद कई और मिनिट्स भी जारी किए गए। मेकनाटन ने भी 1835 में ओरिएंटल शिक्षा के पक्ष में विचार देते हुए कहा कि कुछ लोगों को मालिक बनाने के इरादे से ऐसा करना ठीक नहीं होगा, जिसके कारण आम लोग स्वदेशी शिक्षा से वंचित हो जाएँ। मेकनाटन के प्रस्ताव निरस्त कर किए गए। इसके बाद वर्ष 1839 में ऑकलेंड के मिनिट्स जारी हुए, जिसमें कहा गया कि ओरिएंटल

और पश्चिमी दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए बजट का विभाजन किया जाए। अनुदान के आधार पर यह बात मान ली गई, लेकिन कुछ जिला स्कूलों की स्थापना के अलावा ओरिएंटल स्कूल ज़्यादा चल न सके। लार्ड हार्डिंज ने ऑकलेंड का सुझाव माना तो था मगर जब कलकत्ता में शिक्षक प्रशिक्षण के लिए स्थापित नॉर्मल स्कूल असफल हो गया तो दूसरी तोहमत ऑकलेंड पर लगी और दो साल के अन्दर नॉर्मल स्कूल और एक सौ एक वर्नार्क्यूलर स्कूल बंगाल में फंड जारी न होने से बन्द हो गए।

अँग्रेजी शासन में अनेक मिनिट्स के माध्यम से भारतीय शिक्षा के आधुनिकीकरण की कोशिश की गई। हार्डिंज जो ऑकलेंड के बाद गवर्नर जनरल बनकर आया, उसने नॉर्मल स्कूल शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कोलकाता में स्थापित तो किए, मगर वे चल न सके और हार्डिंज अपने प्रयत्न में विफल हो गया और आर्थिक अभाव में वे स्कूल दो वर्ष में ही बन्द कर दिए गए। उच्च शिक्षा में जरूर कुछ प्रगति हुई और आकलेंड के सुझाव पर बंगाल में पांच सेंट्रल कालेज खोले गए और इन कालेजों में छात्रों की पूर्ति के लिए हार्डिंज ने कुछ पोषक (फीडर) स्कूल भी खोले।

वर्ष 1846 में भारतीय वर्नार्क्यूलर स्कूलों की संख्या और गुणवत्ता को लेकर अत्यन्त ही क्षोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया। जेम्सन टाम्सन जो लै-गवर्नर था, उसने उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों के हर गाँव में स्कूल खोलने का सुझाव दिया, मगर ब्रिटिश सरकार ने उसे अस्वीकार कर दिया। उसने हर तहसील में एक मॉडल स्कूल खोलने और जिला स्तर पर शिक्षा निरीक्षक दफ्तर खोलने का भी सुझाव दिया, ताकि स्कूलों का ठीक से संचालन और निरीक्षण हो सके। ये सुझाव मात्र आंशिक रूप से ही लागू किए जा सके।

गवर्नर जनरलों के लगातार बदलने के क्रम में भारतीय राज्यों की हड्पनीति बनाने वाला लार्ड डलहौजी 1848 में भारत आया, मगर उसने शिक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया। इतना जरूर था कि उसने स्वदेशी प्रतिभाओं को प्रोत्साहित किया। डलहौजी को भारत में इस बात के लिए हमेशा याद किया जाएगा कि उसने रुड़की में सिविल इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की, जो आज देश का महत्वपूर्ण ओर्ड. आई. टी. है। वह ऐसे ही कालेज मद्रास और बंगाल में भी खोलना चाहता था, लेकिन कोर्ट आफ डायरेक्टस ने चाल्स वुड को भारत में शिक्षा के समग्र स्वरूप को निश्चित करने का काम सौंपा। चाल्स वुड ने अपना प्रसिद्ध डिस्पैच 1854 में ब्रिटिश सरकार को सौंपा, जिसमें अनेक सुझाव प्रशिक्षण, प्रशासन, निरीक्षण आदि के साथ प्राचीन भारतीय स्कूलों की संख्या घटाने पर भी थे। लार्ड नार्थब्रुक ने संख्या घटाने पर अपनी स्वीकृति दे दी। लोक-शिक्षण संचालनालय की स्थापना चाल्स वुड के डिस्पैच का ही परिणाम था। 1857 के बाद जब भारत पूरी तरह ब्रिटिश राज के अन्तर्गत आ गया तो शिक्षा में संख्यात्मक विस्तार से अनेक स्कूल खोले गए, नई पाठ्य-क्रम पुस्तकें बनाई गईं। परीक्षा मंडल बनाए गए और जब स्वदेशी स्कूल

धीरे-धीरे बन्द होने लगे तो 1859 में एक नया डिस्पैच जारी हुआ। इसमें यह माना गया कि भारतीय शिक्षा के लिए मात्र सरकारी प्रयास ही पर्याप्त नहीं, बल्कि अनुदान प्रक्रिया अपनाकर निजी प्रयासों को भी प्रोत्साहित किया गया।

शिक्षा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए 1857 में ही एक्ट्स ऑफ इनकॉरपोरेशन पास किया गया और सम्बद्धता देने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना का दौर शुरू हुआ। पंजाब, अलीगढ़ (जो पहले मोहम्मदन एंग्लो ऑरिएंटल था) में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई और स्कूलों के लिए मिशनरी प्रयासों को बढ़ावा दिया गया। इतना सब होने के बावजूद अभी उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों तक छात्र संख्या में तो बढ़ोत्तरी हुई मगर हालत यह हुई कि स्थानीय नगर निकायों को शिक्षा का काम सौंपने के बावजूद दस में से एक छात्र और एक हजार में सौ लड़कियाँ ही प्राथमिक शिक्षा में दाखिल हो सकीं। 1904 में जो राज्य-पत्र पेश किया गया, उसमें यह भी बताया गया कि पाँच में चार गाँव स्कूल रहित थे। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होते-होते देश में पाँच विद्यालय बन गए और 1898 में जब लार्ड कर्जन वायसराय बना तो उसकी प्राथमिकता शिक्षा में सुधार की बनी। उसने विश्वविद्यालय अधिनियम बनाकर अनेक विश्वविद्यालयों का काम सुचारू रूप से चलाने की व्यवस्था की और 1904 तक तो राजपत्र द्वारा अनेक सुधार विश्वविद्यालय स्तर तक लागू कर दिये, जिनमें कलाओं को स्कूल से कॉलेज तक महत्व दिया गया। कलाओं के साथ कर्जन ने कृषि शिक्षा पर भी जोर दिया और राज्यों में कृषि विभागों की स्थापना के साथ पूसा बिहार केन्द्रीय शोध संस्थान खोला। इसी प्रकार पुरातत्त्व में अलग विभाग स्थापित किया और प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा और संरक्षण के लिए 1904 में एक एक्ट बनाया। स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों के चयन, उच्च स्तर और अनुशासन की दिशा में अनेक कार्यों के साथ छात्र और अध्यापकों के लिए हॉस्टल (छात्रावास) की योजना प्रारम्भ की। 1905 तक कर्जन ने जो काम किए उसके बाद लार्ड मिंटो आया। उसने अनेक विषय, जिनमें शिक्षा भी एक था, राज्यों के अधीन कर दिये और केन्द्र एवं राज्य दोनों की जिम्मेदारी बनाकर राष्ट्रीय शिक्षा अभियान को गति प्रदान की। इसी समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति ने मातृभाषा में शिक्षा की जोरदार पैरवी की और तकनीकी शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय फेलोशिप की सिफारिश की। बंकिमचन्द्र चटर्जी ने कर्जन के अँग्रेजी माध्यम की तीव्र आलोचना की थी और उसे भारतीय भाषा और शिक्षा का अपमान माना था। इसी समय सतीशचन्द्र मुखर्जी ने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए समिति का गठन भी किया और 1906 में श्रीअरविन्द के नेतृत्व में बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना की। आगामी एक दशक बाद गोपालकृष्ण गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रत्यन शुरू किए। 1913 में तत्कालीन भारत सरकार ने एक अन्य संकल्प पारित किया और प्राथमिक स्तर पर तीन और आर पढ़ना, लिखना और गणित पर जोर दिया। 1915 के अधिनियम से बनारस में हिन्दू

विश्वविद्यालय की स्थापना की गई, जो 1917 से शुरू हो गया। पं. मदनमोहन मालवीय, जिनका समय 1861 से 1946 तक रहा, इस विश्वविद्यालय की नींव के पथर बने। इस बीच संस्कृत शिक्षा पर भी जोर दिया गया। बनारस, मैसूर, त्रावणकोट, कोचीन, बड़ोदा में नए बोर्ड कायम किए गए और आधुनिक के साथ संस्कृत शिक्षा का भी प्रावधान किया गया। बड़ोदा के महाराजा सयाजी राव ने तो शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान देकर अनेक योजनाएँ लागू कीं। डॉ. भीमराव अम्बेडकर उनकी सहायता की उदारता से ही उच्च शिक्षा पाकर आगे चलकर संविधान पुरुष बने। बड़ोदा नरेश ने राजा रवि वर्मा को आमन्त्रित कर चित्रकला में महत्वपूर्ण कार्य कराया और राज्य संग्रहालय की स्थापना की, जो आज एक ऐतिहासिक दर्शनीय स्थल है।

इन सब प्रयासों के कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग को सेडलर कमीशन के नाम से जाना गया। उसने माध्यमिक शिक्षा को उच्च शिक्षा के पोषक स्कूल का दरजा दिया। आगे जाकर पुनः हर्टांग कमेटी का गठन कर स्कूल शिक्षा, उच्च शिक्षा और कलाओं की शिक्षा पर उल्लेखनीय कार्य हुआ। अनेक कला महाविद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें जेजे कार्प स्कूल महत्वपूर्ण है। हर्टांग कमेटी ने अब तक किये गए तमाम कार्यों का जायजा लेकर गुणवत्ता और विस्तार के अनेक सुधार दिए और विश्व में हर्टांग रिपोर्ट से शिक्षा को त्रि-स्तरीय अर्थात् प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा में वर्गीकृत कर किया गया।

हर्टांग कमेटी ही या बुड़स डिस्पैच, शिक्षा के आधुनिक औपनिवेशिक स्वरूप के साथ यह विचार अत्यन्त प्रगाढ़ था कि शिक्षक की गुणवत्ता और योग्यता के बिना शिक्षा की गुणवत्ता लगभग असम्भव है और इसलिए शिक्षकों के कठोर प्रशिक्षण के लिए प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर प्रशिक्षण संस्थाओं की एक बड़ी व्यवस्था रची जाए, जिसका परिणाम प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण संस्था, बाद में बी.टी.आई. और अब जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना में आज भी देखा जा सकता है। गुणवत्ता के लिए प्रशिक्षण संस्थाओं में समृद्ध ग्रन्थालय और शोध पर भी पर्याप्त जोर दिया गया, ताकि शिक्षक-प्रशिक्षक ज्ञानवर्द्धन के साथ-साथ नए प्रयोग और नवाचार कर सकें। आज जो प्रशिक्षण संस्थाएँ हैं, जैसे जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्था, शिक्षा महाविद्यालय और आई. ए. एस. सी. ई. इंडियन एडवान्स स्टडी सेंटर फॉर एज्यूकेशन, भारत सरकार ने जब 1986 की शिक्षा नीति के अन्तर्गत स्थापित किए तो सर्वप्रथम प्रशिक्षण संस्थाओं के स्वरूप, गुणवत्ता और संसाधन के नियन्त्रण एवं संरक्षण के लिए राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद का गठन किया और भोपाल, भुवनेश्वर, मैसूर, अजमेर एवं शिलांग के क्षेत्रीय महाविद्यालयों को शिक्षा शोध संस्था बना दिया गया और एन. सी. टी. ई. के भी क्षेत्रीय कार्यालय भोपाल, जयपुर, भुवनेश्वर एवं बैंगलूरु में खोल दिए गए। बावजूद इन प्रयासों के शिक्षा महाविद्यालयों की निजी क्षेत्र में अत्यन्त शर्मनाक एवं स्तरहीन भीड़ लग गई और गुणवत्ता की हत्या कर दी गई। प्रशिक्षण

संस्थाओं की मान्यता से भ्रष्टाचार देशव्यापी हो गया और नकली शिक्षकों की नकली प्रशिक्षण प्राप्त एवं कमज़ोर भीड़ खड़ी कर दी गई।

वर्ष 1935 में जब भारत अधिनियम बनाया गया तो उसके साथ ही सत्ता की दोहरी (डायरारकी) व्यवस्था समाप्त कर दी गई। एक नई सरकारी व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसे प्राविन्शल आटोनमी अर्थात् प्रान्तीय स्वायत्तता का नाम देकर 1937 में ग्यारह प्रान्तों को प्रान्तीय स्वायत्तता देकर केन्द्र सरकार और प्रान्तीय सरकार में विभाजन कर दिया गया।

वर्ष 1937 के साथ ही शिक्षा में क्रान्तिकारी विचार का जन्म हुआ। गाँधी वर्ष 1920 से कांग्रेसी नेताओं को स्वदेशी शिक्षा का जो मन्त्र दे रहे थे एवं यंग इंडिया जैसे अपने अखबारों में लगातार टॉलस्टाय फार्म का उदाहरण देते हुए शिक्षा की बुनियाद रखने की चर्चा कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में सोलह सदस्यों की नई तालीम समिति का गठन किया गया और कमेटी ने नई तालीम को बुनियादी शिक्षा के नाम से भारतीय शिक्षा को उपनिवेशी स्वरूप से मुफ्त करने का प्रथम स्वदेशी प्रयास प्रारम्भ किया। गाँधी के तमाम प्रयास और नई तालीम की अवधारणा के बावजूद उपनिवेशी स्कूल व्यवस्था को अनेक लोगों और प्रान्तीय सरकारों ने स्वीकार नहीं किया और बुनियादी शिक्षा का यह स्वदेशी मॉडल, जिसमें मणिष्क, दिल और हाथ को शिक्षा की नियेणी बनाने का प्रयत्न किया गया था, वह वर्ष 1947 तक आते-आते ध्वस्त हो गया।

गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, गोपालकृष्ण गोखले, धौंधो केशव कर्वे, केशव चन्द्रसेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानन्द, गिजुभाई, ताराबाई मोडक आदि अनेक विचारकों ने शिक्षा को उच्च स्तर और भारतीय संस्कृति एवं आधुनिकता के समन्वय से स्वदेशी स्वरूप देने के विचार भी दिए, कार्यक्रम भी दिए, संस्थाएँ भी (प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक) स्थापित कीं, लेकिन सम्भवतया इन विचारकों के विचारों को क्रियान्वित करने के लिए हमारे पास अँग्रेजों की तरह मिशनरी उत्साह नहीं था। चर्च से निकले मिशनरी गाँव-गाँव फैल गए और शिक्षा के साथ आदिवासी एवं पिछड़े क्षेत्रों में उन्होंने इसाइकरण का मिशन चलाकर देश की बड़ी आबादी को इसाई भी बना दिया। प्रतिरोध के स्वर उभरे तो जरूर, मगर अँग्रेज सरकार कुछ न कर सकी और आजादी के बाद की भारत की सरकारें और राज्य सरकारें कुछ कर तो नहीं पाई, लेकिन यह जरूर हुआ कि उपनिवेश का मॉडल कान्वेट, केंद्रीय, केप्पियन, कार्मल और अनेक अँग्रेजी माध्यम स्कूलों के नाम से देश-भर में छा गया, जिसे सुधारना या जिसका स्वदेशीकरण करना अब लगभग असम्भव इसलिए है कि अब शिक्षा भी एक राजनीतिक मुद्रा अधिक है और शैक्षिक मुद्रा कम।

आजादी के पहले और पश्चात् भारतीय शिक्षा के अनेक प्रयास किए गए और जब भारत आजादी की कगार पर था तो वर्ष 1946 में तत्कालीन अँग्रेजी सरकार ने डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय आयोग गठित किया, जिसने अपनी रिपोर्ट 1948 में प्रस्तुत की, यद्यपि अनेक आयोगों और समितियों के माध्यम से अनेक कदम उठाए गए और राधाकृष्णन आयोग 1948, माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर) 1952, राष्ट्रीय भावनात्मक एकता समिति का सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में 1961 में, भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन) 1964, चट्टोपाध्याय, शिक्षा आयोग, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1992 (संशोधित 1992) और उसकी क्रियान्वयन योजना 1992, इस प्रकार अनेक समितियाँ और आयोगों ने अपनी श्रेष्ठ अनुशंसाएँ दीं, फिर भी भारतीय शिक्षा का औपनिवेशिक स्वरूप आज तक बदल नहीं पाया और यहाँ तक कि निजी स्कूलों को एक बड़ा भूमंडलीय शिक्षा बाजार इस कदर व्याप्त हो गया कि सरकारी व्यवस्था चरमरा उठी। आज तमाम प्रयासों के बावजूद, उल्कष्ट विद्यालयों की स्थापना के होते हुए भी सरकारी स्तर के स्कूल गुणवत्ता, संसाधन, शिक्षक-योग्यता और प्रशिक्षण में अत्यन्त दयनीय स्थिति में हैं। अब भारत की नई सरकार 2016 की नई शिक्षा नीति ला रही है। नीति और कार्यक्रम जो भी हों, जब तक भारतीस जनता, सत्ता, संस्था, शिक्षाविद्, प्रशिक्षक और प्रशासक सबका मानस नहीं बदलता, तब तक किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन की उम्मीद करना बेकार है।

शिक्षा की यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इसलिए आवश्यक है कि हम यह जान सकें कि जिस अँग्रेजी औपनिवेशिक शिक्षा का आरम्भ ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक लाख रुपयों की राशि स्वीकृत करके भारत में बाबू पैदा करने वाली शिक्षा का आविष्कार किया था और जिसे हमारी व्यवस्था आज तक ढो रही है, उसे बदलना क्या अब सम्भव नजर आता है? क्या हमारी राजनीतिक इच्छाशक्ति और संकल्प इतना जबरदस्त है कि वह दो सौ साल पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था का स्वरूप, प्रशासन और प्रभाव समाप्त कर शिक्षा में किसी नए रोशनदान रखे? मैकाले मिनिट्स ने तो भारतीय संस्कृति को समाप्त कर और अनेक भारतीय नेताओं, विचारकों, समाज-सुधारकों को साथ लेकर ओरिएंटल-आक्सीडेंटल विवाद के बावजूद उपनिवेश की शैक्षिक सत्ता कायम कर दी जिसे न तो कोई शिक्षा आयोग, समिति या सरकार समाप्त कर सकी और न जनता शिक्षा को लेकर संवेदनशील हो सकी। प्रयास तो आजादी के बाद सामान्य जन शिक्षा, पिछड़े वर्ग, आदिवासी जनजाति, हरिजन जो अब अनुसूचित जातियाँ हैं, अल्पसंख्यक एवं लड़कियों की शिक्षा में उसी उपनिवेश मॉडल के साथ काम अवश्य हुआ। तकनीकी शिक्षा, व्यावसायिक, चिकित्सा, कृषि आदि शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछा दिया गया। प्रशासन प्रणाली में परिवर्तन तो नहीं हो पाया, लेकिन पदों, दफ्तरों और अफसरों की एक तानाशाही व्यवस्था खड़ी कर दी गई एवं

शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार, कदाचरण और अपराधों का प्रवेश हो गया। अँग्रेजी व्यवस्था के वंशज हमारे प्रशासक आज भी आजाद देश की आजाद जनता के अनुरूप शिक्षा का कोई नया विचार या कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं ला सके। शिक्षा कभी सबके लिए, कभी पढ़ो कमाओ, कभी साक्षरता अभियान, कभी अनौपचारिक शिक्षा आदि नामों से संख्यात्मक रूप से बढ़ी और एनजीओ ने कई कार्यक्रम हथिया कर शिक्षा का विकेन्द्रीकरण के नाम पर साक्षरता जैसे अभियानों का भी दुरुपयोग किया, लेकिन न सरकार कुछ कर सकी, न समाज। शिक्षा चेतना का नाम है, आत्मज्ञान और आत्म-गौरव का नाम है। ऐसा लगता नहीं कि शिक्षा प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक कोई ऐसा रूप ग्रहण कर सकेगी जिसे कहा जा सकेगा कि वह भारतीयों की भारतीयों द्वारा रची गई ऐसी शिक्षा है, जो बेकारी की जनक न होकर किसी दिन गाँधी के हेड, हार्ट और हैंड की त्रिवेणी का संगम बनेगी।

## वर्तमान राजनीति: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ज्वलंत समस्याएँ

प्रणव कुमार\*

इस वर्ष (2016) के प्रारंभ में कई घटनाएँ - पठानकोट एवं जम्मू-कश्मीर में जेहादी आतंकवाद की घटनाएँ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में राष्ट्रद्वारा नारेबाजी ('भारत तेरे टुकड़े होंगे, इन्सा अल्लाह' के नारे), हैदराबाद विश्वविद्यालय में एक छात्र की आत्म-हत्या, हरियाणा में जाट आरक्षण का हिंसक आन्दोलन—जो अत्यन्त चिन्ताजनक थी लगातार घटी। इन घटनाओं से जुड़ी हुई राजनीति ने देश की चिन्ता को कई गुना बढ़ा दिया। वामपर्थियों के गढ़ जे.एन.यू. में राष्ट्रद्वारा नारे को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। ये मार्क्सवादी स्टालिन के 2 लेखों के मात्र 3 वाक्यों के 'सिद्धांत' के अनुसार भारतीय राष्ट्र को ही अस्वीकृत करते हुए मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग का समर्थन कर चुके हैं। ये तो भारत में 17 राष्ट्रीयताओं के होने तथा उन सबके (मराठी, पंजाबी, बंगाली, पठान, सिंधी, तमिल आदि) लिए स्वतंत्रता की माँग कर चुके हैं। जे.एन.यू. की घटना 1946 की उसी मुस्लिम-कम्युनिस्ट गठजोड़ की पुनरावृत्ति है। यह घटना विस्तृत विवेचना की माँग करती है। राष्ट्र, समाज और शिक्षा-व्यवस्था पर चर्चा अपरिहार्य है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान राजनीति की दिशा और दशा भी विचारणीय है। इस घटना का एक दुखद पक्ष नासमझीपूर्ण राजनीति का हस्तक्षेप है। राजनीति के इस हस्तक्षेप में मिडिया खुलकर भाग ले रही है। राजनीतिक हस्तक्षेप का मूल कारण मोदी द्वारा है। कांग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी राष्ट्रद्वारा नारेबाजी कर रहे छात्रों के बीच जे.एन.यू. गए। 1940 के दशक में जब कांग्रेसी अंग्रेजों से लड़ रहे थे, मार्क्सवादी स्वतंत्रता सेनानियों की मुख्यिरी कर रहे थे। परंतु कांग्रेस पार्टी ने इन्हीं देशद्वारा ही वामपर्थियों को अपना बौद्धिक नेतृत्व सौंप दिया है। आज मार्क्सवादी फैशन में नहीं हैं; वे अब 'सेक्यूलर' अथवा 'लिबरल' कहलाना पसंद करते हैं।

\*आफिसर्स कालीनी, कटिहार, विहार। मो. 09430582369

जे.एन.यू. में जिन दो विचार-धाराओं का गठजोड़ दिखा वे दोनों राष्ट्रद्वारी तथा हिन्दू-द्वारी शक्तियाँ हैं; इन्होंने पाकिस्तान बनवाया आज देश तोड़ने की बात कर रहे हैं। राष्ट्रवादी होना, हिन्दू होना, इनके लिए फासीवादी होना है। आज समस्त भारतवासी, विशेषकर हिन्दू, ठगा महसूस कर रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नेहरुवादी नीतियों के कारण बहुतेरे जन भ्रमवश यह मानते हैं कि जो हिंदू राष्ट्र की बात करता है वह एक सम्प्रदाय अथवा कम्युनिटी की बात करता है। अतः वह सांप्रदायिक या कम्युनल है। लगभग 2000 वर्षों तक अपनी पारंपरिक मातृभूमि से अलग होकर भारत के अतिरिक्त संसार में सर्वत्र अकथनीय कष्ट सहकर भी यहूदी एक राष्ट्र बने रहे। यहूदी राष्ट्र ने बीसवीं सदी में अपनी मातृभूमि में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। यहूदी राष्ट्र के स्वदेश इस्रायल में लगभग 7% अरब मुस्लिम रहते हैं, जिन्हें पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। उन्हें अपने मजहब के अनुपालन की भी छुट है, जो पड़ोसी अरब राज्यों की धार्मिक नीति के सर्वथा विपरीत है। परंतु इस्रायल उन्हें अल्पसंख्यक ही मानता है, यहूदी राष्ट्र की राजनीति में अरब लोगों की राय की मान्यता नहीं है। 1947 में हिंदुओं को न राज्य मिला, न राष्ट्र की मान्यता मिली, न अपनी पारंपरिक मातृभूमि पर नियंत्रण। जब संसार में कहीं भी यहूदियों के साथ अन्याय होता है, यहूदी राष्ट्र का प्रतिनिधि इस्रायल प्रशासन तुरंत प्रतिकार करता है। 1992 ई में बांग्लादेश में 600 हिंदू मंदिर नष्ट कर दिए गए, हिंदू महिलाओं को निर्वस्त्र कर सड़कों पर घुमाया गया परंतु भारत प्रशासन मौन रहा। बाहर की बात करें, स्वतंत्र भारत के संविधान में भी अल्पसंख्यकों की तुलना में हिंदुओं - भारत के राष्ट्रीय समाज - को कम अधिकार प्राप्त हैं। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित कर सकते हैं (धारा 30), हिंदू इस संवेधानिक अधिकार से वचित हैं। ऐसा विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है। जबकि संपूर्ण संसार में 'नेशन-स्टेट' की अवधारणा स्वीकृत हो चुकी है, जिसके अनुसार छोटे से छोटे राष्ट्र को भी अपनी पारंपरिक मातृभूमि में अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप राज्य स्थापना का अधिकार स्वीकृत हो चुका है, भारत में हिंदू असहाय हैं। अभी हाल ही में भारतीय जनता पार्टी के एक प्रवक्ता के एक लेख में भारतीय संस्कृति को मिली-जुली संस्कृति 'कंपेजिट कल्वर' कहा है। यह दिखाता है कि नेहरुवादी शैक्षणिक नीतियाँ समकालीन भारतीय समाज में कितनी घर कर गयी हैं। वस्तुतः भारत में एक ही राष्ट्रीय संस्कृति है—हिंदू संस्कृति। हमारी पवित्र भूमि में विदेशी आक्रांताओं द्वारा छोड़ी गयी कतिपय परजीवी संस्कृतियाँ भी हैं। इस्लामी संस्कृति एवं ईसाई संस्कृति ने सैकड़ों वर्षों तक आततायी एवम् बर्बर तरीके से हिंदू संस्कृति के विनाश के लिए यथासंभव प्रयास किए। स्वाभाविक है कि हमारे लिए वे संस्कृतियाँ परजीवी संस्कृतियाँ ही हैं। परंतु भारतीय मुस्लिम एवम् ईसाई अपहत हैं। उनको वापस लाना हमारा कर्तव्य है। इसमें असहज होने की आवश्यकता नहीं है। ईसाई मिशनरी यहीं तो कर रहे हैं। पुनः ईसाईयों की माँग पर ही तो जो अधिकार संसार के किसी संविधान में

नहीं है वह 'धर्म-प्रचार का अधिकार' भारतीय संविधान में (धारा 26) मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकृत हुआ।

भारत में राष्ट्र गीत 'वर्दमातरम्' का विरोध होता है क्योंकि हमने गांधी और नेहरु द्वारा प्रतिपादित राष्ट्र की वैकल्पिक अवधारणा को स्वीकार कर लिया, जिसमें हिंदू राष्ट्र को त्याज्य मानकर 'भारतीय राष्ट्र' को स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार हिंदू एक धार्मिक समूह मात्र है, और भारत के सभी निवासी, चाहे वे भारत से वृणा ही क्यों न करते हों, मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं। भारत के रूप में प्रायः स्वीकृत राष्ट्र की इस वैकल्पित अवधारणामें हिंदू विरोध सर्वत्र परिलक्षित होता है। परंतु भारत के इतिहास में गांधी युग से पहले ऐसा नहीं था। तब भारतीय और हिंदू-राष्ट्र समानार्थी थे।

श्री अरविंद ने 1905 में कहा था कि 'जबकि अन्य अपने देश को जड़ पदार्थ के एक निष्क्रिय टुकड़े के रूप में देखते हैं - कुछ मैदान और खेत, जगल और पर्वत और नदियाँ - मैं देश को माँ की तरह मानता हूँ। मैं उसकी आराधना करता हूँ, माँ के रूप में उसकी पूजा करता हूँ।'

श्री अरविंद ने 1946 में हमें चेताया था कि 'भारत माता धरती का एक टुकड़ा नहीं है, वह एक शाक्ति हैं, एक देवी हैं क्योंकि सभी देशों की एक ऐसी ही देवी हैं, जो उनके अलग अस्तित्व को बल प्रदान करती हैं और उनकीहस्ती बनाए रखती हैं। मनुष्य के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि सब कुछ उसी ने रचा है और उसके पीछे कास्मिक या महत्तर वस्तु नहीं है।'

मध्य-पूर्व के हवाई अड्डों पर हिंदू यात्री के समान में यदि कोई देव-विग्रह, देवी-देवता का चित्र, भगवद्रीता अथवा सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक, रुद्राक्ष माला, हनुमानजी या श्री राम या शिवजी का लॉकेट हो तो स्थानीय प्रशासन उसे हस्तगत कर लेता है। क्या हिंदू राष्ट्र के उपयुक्त अपमान के प्रतिकार हेतु कोई राज्य है? नहीं। हिंदू राज्य विहीन राष्ट्र हैं।

बांग्लादेश और पाकिस्तान में हिंदुओं का नरसंहार हो रहा है। फिजी में हिंदुओं पर अमानवीय अत्याचार किए गए। सर्वत्र मौन। कोई राज्य हमारी समस्याओं के प्रति संवेदनशील नहीं है। सन् 1947 में हिंदू राज्य की स्थापना न कर पाए, जो हमारी आशाओं, आकांक्षाओं के अनुरूप कार्य करते हुए संसार में सनातन धर्म का प्रचार करे, हिंदू अस्मिता की रक्षा करे। राष्ट्र की हमारी अवधारणा ही भ्रामक है। 'नेशन-स्टेट' (राष्ट्र-राज्य) - अपनी पारंपरिक मातृभूमि में वहाँ के लोगों का अपना राज्य जो उनकी संस्कृति, भावनाओं, आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करे - की अवधारणा संपूर्ण विश्व में स्वीकृत हो चुकी है। संसार में सर्वत्र छोटे-छोटे राष्ट्रों के भी अपने राज्य हैं। इस्रायल, जापान, थाइलैण्ड, जर्मनी, इंग्लैण्ड, पोलैंड, श्रीलंका आदि देश अपनी राष्ट्रीय अस्मिता के संरक्षण संवर्धन के लिए तत्पर हैं। परंतु संसार के सर्वाधिक प्राचीन जीवित राष्ट्र

- हिंदुओं - का अपना 'नेशन-स्टेट' नहीं है, जो हिंदू आदर्शों के अनुसार कार्य करते हुए हिंदुओं के पुनरुत्थान के लिए सतत प्रयासरत हो तथा हिंदू साहित्य, संस्कृति, कला, स्थापत्य की प्रगति के लिए सन्नच्छ हो।

हिंदू एक राष्ट्र हैं, मात्र एक धार्मिक समुदाय नहीं। उसके अपने नायक एवम् खलनायक हैं। हिंदुओं का पारंपरिक स्वदेश भारतवर्ष है। स्वामी दयानंद, बकिम, अरविंद, विवेकानंद, सावरकर आदि हिंदू-राष्ट्र-नायकों ने बारंबार इस तथ्य पर बल दिया। शिवाजी और महाराणा इसी हिंदू राष्ट्र के उद्घार के लिए सतत प्रयास करते रहे। टी. व्ही. के एक कार्यक्रम 'आप की अदालत' में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री देवेंद्र फड़नवीस गोवध के प्रश्न पर असहज थे। भारत का राष्ट्रीय समाज गोपालक है, गो-पूजक है, गोपाल-पूजक है। अतः भारतीय जनता पार्टी हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं का सम्मान करते हुए गो-वध का विरोध करती है - ऐसा वे कह पाते। बिहार विधानसभा चुनाव के पहले असहिष्णुता का मुद्रा उठा था, जो चुनाव संपन्न होते ही भारतीय समाज एकाएक सहिष्णु हो गया है ऐसा प्रतीत होता है - पुरस्कार वापसी अभियान बंद हो चुका है। पर क्या दादरी में गो-वध के आरोपी अखलाक की हत्या के साथ ही भारत में असहिष्णुता ने जन्म लिया है? सीरियायी ईसाई, पारसी और यहूदियों को तो भारत के राष्ट्रीय समाज - हिंदू - ने कभी प्रताड़ित नहीं किया। पुर्तगाली ईसाईयों और मुस्लिम आक्रांताओं ने अपनी उद्धोषित धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप ही भारत में अकथनीय धार्मिक उत्पीड़न किया। सहस्रों हिंदू मठ, मंदिर नष्ट कर दिए गए।

भाई ये काफिर असहिष्णु नहीं हैं। असहिष्णुता के विष-बीज अगर देखना हो तो धर्म के आड़ में राजनीतिक विचारधाराओं के एकमात्र सच्चे 'धर्मग्रथ' पढ़िये, वहाँ मिलेंगे। बात 1998 ई. की है। मनोज रघुवंशी कृत 'आप की अदालत' नामक कार्यक्रम का प्रसारण हुआ था जो टीव्ही पर, जिसमें 'महान' इतिहासकार के. एम. श्रीमाली आमंत्रित थे, श्रीमाली ने बल देकर कहा कि प्राचीन भारत में गो माँस खाया जाता था, इसके सैकड़ों उल्लेख मिलते हैं। रघुवंशी के बार-बार आग्रह पर कि श्रीमाली केवल एक स्रोत का नाम बताएँ, केवल एक वेद, केवल एक सूक्त, केवल एक मंत्र का उल्लेख करें जिसमें ऐसा लिखा गया हो; 'महान' इतिहासकार सक्षम न हो सका। तब रघुवंशी ने वेदों को उसके समक्ष रख दिया कि चलिए पलट कर दिखा दीजिए, उस प्रगतिशील, वामपंथी 'इतिहासकार' में इतना साहस नहीं बचा कि उन धर्मग्रंथों की ओर देखता।

फिर भी यह प्रवाद जारी है कि हिंदुओं के पूर्वज गो-माँस भक्षण करते थे।

अब कुरान एवं हडीस पर आते हैं। क्या एक, केवल एक उल्लेख है कि गो-वध अल्लाह, जो प्राक्- इस्लाम देवता भी था, को प्रिय है? नहीं। तब समकालीन भारत में गो-माँस भक्षण पर इतना आग्रह क्यों। क्या यह हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं पर प्रहार करने की सोची-समझी नीति के अनुरूप नहीं है? हिंदू गो-वध का विरोध करते

हैं। यह स्वतंत्रता का नहीं, हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं के सम्मान का प्रश्न है। गौ संरक्षण भारतीय संस्कृति का अटूट हिस्सा है - श्रुति, स्मृति, इतिहास और परंपरा में गाय पूजनीय बतायी गयी है। ऋक् संहिता में गाय को अद्यन्या (जिसका वध न किया जाए) कहा गया है। अर्थव संहिता में स्पष्ट कहा गया है कि 'जहाँ गाय दुःखित होती है, उस राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है, वहाँ वीरों का जन्म नहीं होता। गाय को पीड़ित करना क्रूरता है।' बौद्ध वांग्मय गाय को स्तेही परिजन के रूप में परिगणित करता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में गोवध पर मृत्युदंड का प्रावधान है।

संप्रति भारतीय मन व्यथित है। हिंदू आहत हैं। हमारे पूर्वजों को गौ माँस भक्षण करनेवाला बताया जा रहा है। भारत के बगाल, केरल, और कश्मीर में आधुनिकता के नाम पर गौ मांस की पार्टी आयोजित की गयी। उनका उद्देश्य स्पष्ट है - हिंदू जीवन पद्धति पर कुठाराधात। आमिर खान को मात्र 6-8 महीनों में भारत असहिष्णुता बढ़ी है, ऐसा लगता है। मानो भारत सहिष्णुता का स्वर्ग रहा हो भूतकाल में। 'महान' इतिहासकार सतीश चंद्र भी तो कक्षा ग्यारहवीं के पाठ्यपुस्तक में लिख चुके हैं कि सल्तनत काल में सहिष्णुता की नीति का अनुपालन होता था।

क्या मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिंध में सहिष्णुता का अनुपालन करते हुए लाखों हिंदू मार डाले गए या दास बना लिए गए थे 712 ई में? 'तारीख-ए-फिरोजशाही' में बरनी लिखता है कि 1290 ई में सुल्तान जलालुदीन खिलजी ने झाइन, राजस्थान में कई देव मंदिरों को तोड़कर देव मूर्तियों को नष्ट किया, जलाया। उसी पुस्तक में उल्लेख है कि सुल्तान अलाउदीन खिलजी के सेनानायकों ने ज्योतिर्लिंग सोमनाथ को नष्ट किया; वे उसे दिल्ली लाये ताकि ईमानवाले उन्हें पददलित कर पाएँ। 'सीरत-फिरोजशाही' में पूर्वी तट पर अवस्थित भगवान जगन्नाथ के प्राचीन मंदिर के विधंश का उल्लेख है कि सुल्तान फिरोज शाह ने देव-विग्रह के नाक में छेदकर उन्हें भूमि पर पटक दिया। उस दुष्ट ने खंडित देव-मूर्तियों को मस्जिदों के सामने रखा ताकि वे प्रार्थना करने के लिए जाने वाले सुन्नी मुसलमानों के जूतों के नीचे आ सकें। पुनः क्या पाकिस्तान एवं बांग्लादेश हिंदू-मुस्लिम सौहार्द के जीवंत प्रमाण हैं? समाज में बढ़ रही असहिष्णुता के नाम पर वामपंथी साहित्यकार, कलाकार और कुछ वैज्ञानिकों ने अपने पुरस्कारों को लौटाया है। परंतु इनकी संवेदनशीलता कुछ चयनित लोगों के लिए है। कश्मीर में मारे गए हिंदुओं के लिए उनके पास संवेदना के शब्द नहीं हैं। इस्लामी आंतक के कारण अपने ही देश में शरणार्थी के रूप में गत 25 वर्षों के कष्ट सह रहे इन हिंदुओं की करुण पुकार इन्हें सुनायी नहीं देती।

नवम्बर, 1984 में 'सेक्यूलर' कांग्रेसी कार्यकर्ताओं द्वारा सिखों के नरसंहार के विरोध में इन लोगों ने अपने पुरस्कार नहीं लौटाए। तब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक तथा भाजपा के 'असहिष्णु' कार्यकर्ताओं ने सिखों को सहयोग दिया था। असम के कुछ जिलों में हिंदुओं का जीना दूभर होता जा रहा है। पश्चिम बंगाल के

कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में हिंदू पारंपरिक दूर्गापूजा नहीं कर पा रहे हैं। वहीं केरल के हिंदू 'लव जेहाद' से परेशान हैं। इन विषयों पर इनके मौन से स्पष्ट है कि ये लेखक, कलाकार संवेदनशील नहीं, राजनीति से प्रेरित हैं।

अभी अभी कर्नाटक की कांग्रेस सरकार ने टीपू सुल्तान का जन्मदिन मनाने का निर्णय लिया, मानों टीपू एक आदर्श राजा था। टीपू हिंदू नामों के प्रति असहिष्णु था - मंगलपुरी (मंगलोर) को जलालाबाद बना दिया, मैसूर बना नजराबाद, कलीकट को बना दिया उसने इस्लामाबाद, रत्नगिरि बना मुस्तफाबाद। एक अवसर पर मतांध टीपू ने कुर्ग में दस हजार से अधिक हिन्दुओं को बलात् इस्लाम में धर्मान्तरित किया। मालाबार में टीपू ने हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार किए थे। चिराग-ए-दिल्ली नसीरुदीन (1274-1356 ई) ने इस्लाम स्वीकार करने के 4 कारण बताया था:

मौत का भय,  
परिवार को दास बना लेने का भय,  
मुसलमानों का प्रचार,  
पुरस्कार तथा गनीमा (गैर-मुसलमानों की संपत्ति की लूट में हिस्सा) का लालच,  
और मूढ़ता।

परंतु वामपंथी इतिहासकार चाहते हैं कि हम मान लें कि इस्लाम की अच्छाइयों से प्रभावित होकर हिंदू मुसलमान बने थे।

मुंबई में शिवसैनिकों ने सुर्धीद्रि कुलकर्णी के मुँह पर कालिख पोत दिया सरियों से प्रताड़ित मूक हिंदू जन की क्षुब्ध अव्यक्त भावनाओं के प्रकटीकरण के रूप में इसे समझा जाना चाहिए। कुलकर्णी भारत के विरुद्ध जिहाद में लिप्त पाकिस्तान के पूर्व विदेश मंत्री कसूरी के पुस्तक विमोचन कार्यक्रम का आयोजक था।

भारत में इस समय प्रभावी बुद्धिजीवियों ने 'जिहाद' प्रभृत शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ लगाकर हिंदू जनमानस को भ्रमित किया है, जबकि स्वयं मुफ्ती, ईमाम, अयातुल्ला प्रभृत इस्लाम के विद्वान जिहाद का कुछ और ही अर्थ बताते हैं। ईरान के राजनेता, इस्लाम के अधिकाधिक व्याख्याकार रहे अयातुल्ला खुमैनी बलपूर्वक कहते हैं कि 'जिहाद का मतलब है सभी गैर-मुस्लिम धरती को जीत लेना। वैसा युद्ध एक सच्ची इस्लामी सरकार बनने के बाद इस्लामी ईमाम के निर्देश या उसके आदेश पर घोषित किया जा सकता है। तब सभी स्वस्थ पुरुषों का कर्तव्य होगा कि वे इस जीत के लिए लड़े जाने वाले युद्ध के स्वयंसेवक बनें, जिसका अंतिम लक्ष्य है इस धरती के उस छोर तक कुरान को सत्ताधारी बनाना।'

बिहार विधानसभा के चुनाव में मोदी जी ने अल्पसंख्यक आरक्षण का मुद्दा उठाया था। लगभग 100 वर्ष पहले तक भारत में मुस्लिम ही अग्रणी समुदाय थे। वे शासक वर्ग में परिणामित होते थे। दिल्ली की निजाम-उद्दीन दरगाह के प्रमुख हसन निजामी ने कहा था, 'मुसलमान कौम ही भारत के अकेले बादशाह हैं। उन्होंने हिन्दुओं

पर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया और मुसलमान ही शासन करेंगे। 'यहाँ तक कि जिन्ना ने भी भारत-विभाजन की माँग मुसलमानों के मालिक कौम 'मास्टर रेस' होने के आधार पर की थी। राजनीति के अतिरिक्त शैक्षणिक क्षेत्र में भी मुसलमान अग्रणी थे। तत्समय विद्यालयों में मुस्लिम छात्रों की संख्या 25% थी? जबकि सन् 1871 की जनगणना के अनुसार मुसलमान भारत की कुल जनसंख्या के 10% ही थे। अलीगढ़ आंदोलन के जनक सर सैयद से लेकर मौलाना आजाद तक किसी मुस्लिम नेता ने मुसलमानों को दलित, वंचित नहीं माना। सभी मुसलमान नेता मुसलमानों को विशेषाधिकारयुक्त समुदाय मानते थे, भारत के शेष समुदायों को नीचा समझते थे। सम्प्रति ओवैसी बधुओं की राजनीति सन् 1906 से 1947 तक ही तुष्टिकरण नीति का ही दुहराव है। जबकि सारे मुस्लिम आशंकाओं, शिकायतों, दावों का समाधान करने के लिए ही तो भारत विभाजन कर पाकिस्तान बनाया गया था सन् 1947 में।

अल्पसंख्यक आरक्षण की माँग को स्वीकार करना एक समुदाय विशेष को उसकी संगठित शक्ति के कारण विशेषाधिकार देना है। इसी 'दुर्बलता की भंगिमा में दबंगई की राजनीति' - ग्रावमिन पोलिटिक्स' - से हिन्दुओं को सचेत किया था डॉ. भीमराव अंबेडकर ने। अल्पसंख्यक आरक्षण नैसर्गिक न्याय तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों के भी विपरीत है। अल्पसंख्यक आरक्षण का विरोध करके माननीय प्रधानमंत्री ने स्तुत्य कार्य किया। परन्तु बिहार विधानसभा चुनाव में भाजपा की अप्रत्याशित हार हो गयी। वस्तुतः हर चुनाव जीतने के बाद भाजपा नेतृत्व अपने समर्थकों - हिन्दुओं - की आशाओं, अभिलाषाओं पर खरा नहीं उतरती है। ऐसा प्रतीत होता है कि चुनाव में हिंदू मत प्राप्त कर विजयी होने के उपरांत भाजपा के प्रवक्ता हिंदू शब्द का उच्चारण करने से घबड़ते हैं। ऐसा अन्य धर्मों के साथ नहीं है। अहमदिया स्वयं को मुसलमान मानते हैं, मुस्लिम उन्हें स्वीकार नहीं करते। मॉर्मॉन (Mormon) अपने को ईसाई मानते हैं, ईसाई समुदाय उन्हें स्वीकार नहीं करता। चौंकि 'हिंदू' प्रतिष्ठित नहीं हैं, हिन्दुओं से अपेक्षित स्वयंसेवक एवं प्रभूत धनराशि प्राप्त करने वाले संगठन भी स्वयं को हिंदू कहने से घबड़ते हैं। गर्व से कहो - हम हिंदू हैं का जयघोष करने वाले स्वामी विवेकानन्द की संस्था रामकृष्ण मिशन भी 'अल्पसंख्यक' धर्म कहलाना चाहती है। हिंदू विधि-विधान से हिंदू देवता की पूजा करने वाला ISCON भी हिंदू संगठन कहलाना पसंद नहीं करता। हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए स्थापित आर्य समाज न्यायालय की शरण गया कि उसे अल्पसंख्यक धर्म की मान्यता मिले। ब्रह्म समाज को विहार में अल्पसंख्यक धर्म स्वीकार किया जा चुका है। नानक से लेकर दशमेश गुरु गोविंद सिंह तक हिन्दुओं की दारुण स्थिति से व्यथित थे। वे हिंदू थे। स्वधर्म के कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहे, परंतु सिख अपने को अलग मानते हैं।

स्पष्ट है कि हिंदू धर्म के पुनरुत्थान, पुरुप्रतिष्ठा के उपरांत ही ये संगठन प्रताड़ित हिंदू से तादात्म्य स्थापित करेगे। 'अल-जजीरा' ने दशकों से प्रश्न किया था

कि क्या आप इस्लामिक स्टेट (IS) की विजय का समर्थन करते हैं। 56,888 अखबी प्रतिभागियों में से 81% ने 'हाँ' कहा था। ध्यातव्य है कि IS ने न केवल सीरियाई नगर पल्मीरा में अवस्थित प्राक्-इस्लामी देवता बेल के खंडहरनुमा मंदिर को नष्ट किया था, अपितु गैर-मुस्लिमों पर अमानुषिक अत्याचार भी किया था। दूसरा समाचार यह है कि पाकिस्तान में मुंबई हमलों के सूत्रधार सईद के इस्लामी आंतकवादी इस्लामी स्टेट (IS) में शामिल हो रहे हैं। स्पष्ट है कि मजहबी कट्टरता से इस्लाम ग्रस्त है। तब हमें रवीन्द्रनाथ टैगोर, जिन्हें मार्क्सवादियों ने भारतीय पाठ्यपुस्तकों से हटा ही दिया है, याद आते हैं। भारत के संदर्भ में अपनी भाषा, संस्कृति, धर्म से विलगाव को टैगोर अनिष्टकर मानते थे। उन्होंने कहा था कि 'भूमि के बधान से मुक्ति पेड़ के लिए कोई स्वतंत्रता नहीं।' एकेश्वरवादी कट्टरता से असहज टैगोर में यह कहने का साहस था कि 'मैं उस ईश्वर से प्रेम करता हूँ, जो मुझे यह स्वतंत्रता देता है कि मैं उसे अस्वीकार कर सकूँ।' एकेश्वरवादी मजहबों में 'विश्वास' का जो महत्व है, भारतीय प्रज्ञा उसे अस्वीकार करते हुए विवेक पर बल देती है। अपनी भूमिका चिकित्सक की बताते हुए कोई बुद्ध ही कह सकता था कि कोई बात केवल इसलिए मत मान लेना क्योंकि तथागत ने ऐसा कहा है, अपने विवेक की तुला पर तौल लेना। हिंदू या पैगन या काफिर अंध-श्रद्धा से ग्रस्त नहीं है, तब आश्चर्य कैसा?

इस्लामी साम्राज्यवाद के भयंकर लूट, रक्तपात, हत्या एवं विध्वंस के पश्चात भी संसार की आर्थिक महाशक्ति बने रहे भारत पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ। अंग्रेज भारत को भूखा, नंगा, अस्वस्थ और अशिक्षित छोड़कर जाने के लिए बाध्य किए गए। उसी अंग्रेजी साम्राज्यवाद की प्रशंसा मार्क्स ने की थी। उसी अंधे के दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करते हुए भारतीय वामपंथी, समाजवादी और 'लिबरल' हिंदू परंपरा की खिल्ली उड़ाते हैं, जबकि परंपराएँ आधुनिकता विरोधी नहीं होती। परंपरा और विकास विरोधी नहीं हैं। विकसित राष्ट्रों में परिणामित जापान की जड़े अपनी परंपरा में गहरी जमी हुई है। अब तो इसाई मिशनरी भी कह रहे हैं—परंपरा नहीं ईसा। चर्च नियंत्रित वामपंथी मीडिया बहुत प्रसन्न है। अंतर्राष्ट्रीय चर्च में 40 लाख पूर्णकालिक अमिक कार्यरत हैं; चर्च 22,000 पत्र-पत्रिकाएँ निकालता है; 13,000 पुस्तकालय संचालित करता है। चर्च 1800 रेडियों एवं टी.वी. स्टेशनों द्वारा इसाई मजहब का प्रोपगेंडा करता है। चर्च के मागदर्शन में 1500 विश्वविद्यालय चल रहे हैं। ध्यातव्य है कि ये ऑकड़े 25 वर्ष से अधिक पुराने हैं संख्या अवश्य ही बढ़ी होगी। सैकड़ों वर्षों तक इस्लामी दासत्व, हिंसा, लूट, रक्तपात, विध्वंस, तत्पश्चात ईसाई प्रताङ्गना, विध्वंस एवं लूट के बाद स्वतंत्र हुआ हिंदू राष्ट्र अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है। हमारे विकल्प सीमित होते जा रहे हैं। ईसाई संसाधनों का मुकाबला हिंदू समाज कैसे करें?

वामपंथी चीन में पोप के आगमन पर प्रतिवंध है। जबकि भारत में ईसाईयों के छोटे परंतु धर्माधि समूह सेवेंथेंडवेटिस्ट का प्रमुख यान पालसेन 2001 ई. में केरल,

कण्टक और दिल्ली सरकारों का राजकीय अतिथि बनता है। क्या हमारे आदरणीय साधुओं को पाश्चात्य जगत् वह सम्मान देता है? एडवेंटिस्ट यान मेहरी ने आंध्र प्रदेश संगठन द्वारा 15018 लोगों को धर्मातिरित करने का उल्लेख किया है। पीटीआई के अनुसार, 25 अगस्त 2002 को एडवेंटिस्टों ने मदुरई में 250 हिंदू युवकों को ईसाई बनाया। नेलुलोर में सन् 2001 में एडवेंटिस्ट चर्च ने 1500 से अधिक हिंदुओं को ईसाई बनाया। येन केन प्रकारेण—जोर जबरदस्ती अथवा प्रलोभन देकर—धर्मातिरण कराने के लिए बदनाम एडवेंटिस्ट चर्च के अनुयायियों की संख्या भारत में 2 लाख से 5 लाख हो गयी। 1999-2001 ई के बीच। मात्र दो वर्ष में 150% की वृद्धि। 'मानवीय सहायता' के लिए सेक्यूलर अमेरिकी प्रशासन एडवेंटिस्टों को 5 करोड़ डॉलर का अनुदान भी देता है। फिर भारत प्रशासन हिंदू संगठनों को भी अनुदान क्यों न दे, देश-विदेश में धर्मातरण कराने के लिए? सेवेंथ एडवेंटिस्ट चर्च का प्रमुख यान पालसेन का विचार है कि विद्यालय, औषधालय चलाना साधारण काम है, यदि उसमें धर्मातिरण का उद्देश्य न हो। यदि लक्ष्य धर्मातरण हो, तभी इन 'विकास कार्यों' को 'मिशन' अभिहित कर सकते हैं। विश्व हिंदू परिषद् द्वारा चलाए जा रहे घर-वापसी कार्यक्रम की निंदा की जाती है, उसे विखंडनकारी और अशांतिकारक माना जाता है; निंदित होने के स्थान पर धर्मातरण में लिप्त पालसेन यहाँ राजकीय अतिथि बनता है। न्यायिक आयोगों की विपरीत टिप्पणियों से भरी हुई विस्तृत रिपोर्टों के बावजूद मिशनरियों को राजकीय सम्मान दिया जाता है। भारत प्रशासन ने उन्हें 'भारत रत्न' और पद्म पुरस्कार' तक दिया। टेरेसा को भारत रत्न मिला, कामिल बुल्के को पद्म पुरस्कार मिला। क्यों यह दोहरा मानदंड? जबकि हिंदू धर्माचार्यों, यथा शंकराचार्य, जयेन्द्र सरस्वती, आसाराम बापू को साजिसन कारागार में डाल दिया जाता है। तमिलनाडु के प्रमुख राजनीतिक दल हिंदी और संस्कृत को तथाकथित उत्तरी साम्राज्यवाद का उपकरण मानकर विरोध करते हैं। परंतु संस्कृत का विरोध 'तमिल परांपरा' नहीं रही है। अपितु दक्षिण भारत पुरातन काल से संस्कृत का, वैदिक संस्कृति का पालना रहा है। आदि शंकराचार्य दक्षिण के थे। रामानुज—विशिष्टाद्वैत के संस्थापक—दक्षिण के थे। भागवत पुराण और विष्णुपुराण दक्षिण के हैं। विगत 1000 वर्ष के राजनीतिक पराभव के काल में हिंदू अस्मिता, सनातन धर्म को अक्षुण्ण रखनेवाला भारत का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आंदोलन, भक्ति आंदोलन, दक्षिण से ही तो सर्वत्र फैला। पुनः किसी मूल तमिल साहित्य में भारतीय संस्कृति, संस्कृत अथवा सनातन धर्म का विरोध, चाहे वह कितना ही धीमा क्यों न हो, नहीं मिलता। बीसवीं सदी से तमिल राजनीति में परिलक्षित हिंदी, हिंदू विरोध के स्वर के जनक ईसाई मिशनरी तथा ब्रिटिश प्रशासक, थे—बिशप रावर्ट काल्डवेल, रेवरेंड जॉन स्टीवेंसन, फ्रांसिस एलिस, एलेक्जेंडर कैपबेल, जार्ज उग्लो पोप आदि। क्यों न उनकी भ्रांत प्रस्थापनाओं पर दृष्टिपात दिया जाए—

1. तमिल भाषा का संस्कृत से कोई संबंध नहीं।
2. आर्य और द्रविड अलग मानव समुदाय हैं।

चिन्तन-सृजन, वर्ष-13, अंक-3

3. भक्ति आंदोलन ईसाई मत से प्रभावित है।
4. तमिल शैव मत जीसस से प्रभावित है।
5. कवि तिरुवल्लुवर मतांतरित ईसाई थे।
6. जीसस का पट्टशिष्य टॉमस भारत आया था।

जबकि द्रविड़ शब्द मानव समुदाय वाचक नहीं है, यह भौगोलिक शब्द है। उत्तर की तुलसी, मीरा, शंकरदेव (असम), नानक आदि उसी वैदिक क्षेत्रीय संस्कृत से अनुप्राप्ति थे, जिससे दक्षिण के वैष्णव तथा शैव संत, नारायण गुरु, रमण महर्षि, आदि शंकर, तिरुवल्लुवर आदि। ‘प्रगतिवाद’ के नाम पर तमिलनाडु की राजनीति में हो रहे सनातन धर्म के विरोध को समझना आवश्यक है। इस द्रविड़वाद के पीछे मिशनरी संसाधन, समर्थन और सक्रियता को समझना और तदनुरूप यथेचित कार्यवाही भी आवश्यक है। तत्कालीन विश्व की सबसे बड़ी सभ्यता थी सिंधु घाटी सभ्यता या हड्पा सभ्यता। क्षेत्रफल की दृष्टि से इसे सरस्वती सभ्यता कहना अधिक समुचित है। बड़े-बड़े बहुमंजिला भवन, अत्यधिक चौड़ी समकोण पर काटती सड़कें, ढकी नालियाँ, सार्वजनिक स्नानागार। 5000 वर्ष पूर्व सम्पूर्ण क्षेत्र में माप-तौल की समान प्रणाली, यहाँ तक कि सम्पूर्ण क्षेत्र में ईटों का भी समान माप, प्रभूत भौतिक पुरातात्त्विक साक्ष्य, लेकिन लिखित साक्ष्य सिरे से अप्राप्य। उधर वैदिक सभ्यता के प्रभूत लिखित साक्ष्य चारों ओर वेदों, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र साहित्य के रूप में इस्लाम और खिस्ती विध्वंस सहने के बाद भी आज विद्यमान हैं। परंतु इस विशाल वैदिक साहित्य के ‘यायावर’, ‘अर्द्ध शिक्षित जनकों से संबंधित एक भी भौतिक पुरातात्त्विक साक्ष्य आज भी अनुपलब्ध हैं। ऐसा विरोधाभास संसार में केवल भारत के इतिहास में ही दृष्टिगोचर होता है।

अंग्रेजों ने आर्य आक्रमण/आगमन सिद्धांत गढ़ा, जो समझ में आता है। ये ‘लिंबरल’, साम्यवादी, समाजवादी, ‘इतिहासकार’ उस झूठ को हमारे बच्चों को पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से पढ़ाते रहे। स्पष्ट है कि आर्य द्रविड़ भेद झूठा है।

सन् 1999 में जब पोप जॉन पाल द्वितीय भारत आया था, तब आशा की गई थी कि ईसाईयों द्वारा हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों तथा हिंदू मंदिरों के विध्वंस के लिए वह क्षमा याचना करेगा। परंतु उसने हिंदुओं के अंधकार में डूबे होने की बात कर भारत को धर्मांतरित करने का आह्वान कर डाला। हिंदुओं के नरसंहार के लिए उत्तरदायी संस्था के प्रधान के द्वारा दुःख व्यक्त न करना वैशिक राजनीति में हिंदुओं की कमज़ोर स्थिति को प्रदर्शित करता है। ईसाईयों का धर्मगुरु पोप एक संकीर्ण राजनीतिज्ञ हैं, उनसे मानवताकी अपेक्षा करना बेमानी है। जबकि पादरियों द्वारा बच्चों के यौन शौषण के लिए पोप ने अमेरिकी जनता से क्षमा याचना की थी। उसी पोप ने चीन की जनता से यहाँ मिशनरियों द्वारा किए गए अत्याचारों के लिए क्षमा माँगी थी। इजराइल में पोप ने यहूदियों पर ईसाईयों द्वारा किए गए अत्याचारों के लिए क्षमा याचना की थी। लगभग 100 बार विभिन्न मानव समाजों से पोप क्षमा याचना

कर चुके हैं। स्पष्ट है कि भारत के प्रति ईसाईयों की कार्य-प्रणाली नहीं बदली है। ब्रिटेन, इटली, जर्मनी प्रभूत यूरोपीय देश अपने नागरिकों से अधिकाधिक बच्चे पैदा करने की आवश्यकता बता रहे हैं। पोप और चर्च भी मुस्लिम आव्रजन के कारण उत्पन्न जनसांख्यिकी युद्ध से निपटने के लिए सन्नद्ध हैं। परंतु भारतीय हिंदुओं से यह अपेक्षा की जा रही है कि वे जनसंख्या कम करें - प्रशासन तो दिन-रात यह कर रहा है। NGO भी लगे हुए हैं। जबकि हमारे ही देश में ईसाई एवं मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। ऑल इंडिया क्रिश्चियन काउंसिल के महासचिव जॉन दयाल ने कहा है कि ईसाईयों के चौथे बच्चे के लिए विशेष व्यवस्था की जाएगी; बृहदाकार ईसाई परिवारों के लिए आकर्षक विकित्सा पैकेज देने की घोषणा भी हुई। केरल में ईसाईयों को अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहन देने का विरोध क्या आपने सुना है? उसी केरल में हिंदू जनसंख्या 2% घटी है। परंतु जब भाजपा के कुछ नेता इस जनसांख्यिकी युद्ध से हिंदुओं को सचेत करते हैं तो उन्हें सनकी, दकियानूसी कहा जाता है, उनकी छिल्की उड़ायी जाती है। हमारे कतिमय ‘उदार’ नेता ‘मुस्लिम फर्स्ट’ नीति का उल्लेख करते हैं, यह मुस्लिम-प्रेम अनायास नहीं है। यहाँ मुसलमानों की जनसंख्या का बढ़ता प्रतिशत एवं उनके द्वारा संगठित वोटिंग के दबाव को रेखांकित करना उचित होगा। अल्जीरिया के राष्ट्रपति बोमेदियान ने कहा था कि ‘हमारी औरतों के गर्भ हमें जीत दिलाएंगे’ सीरिया, लेबनान, कोसोवो, कश्मीर, सिंक्यांग, पाकिस्तान एवं बांगलादेश इसी जनसांख्यिकी युद्ध के उदाहरण हैं। हिंदू यथाशीघ्र इस सामूहिक आत्महत्या-भावना के मनोरोग (डेथ विश) से विरत हों। सेक्यूलर देश ब्रिटेन का राजप्रमुख केवल प्रोटेस्टेंट ईसाई मत का संरक्षक है। संयुक्त राज्य अमेरिका उदार, लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूपमें सर्वमान्य है। परंतु वह केवल ईसाई मिशनरियों को ही धर्मार्थतण हेतु कूटनीतिक, भौतिक, रणनीतिक सहायता देता है। चर्च (कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट) और इस्लाम (शिया और सुन्नी) संपूर्ण पृथ्वी पर अपनी संख्या बढ़ाने हेतु अरबों-खरबों की योजनाएँ चला रहे हैं - छल, बल, हिंसा, रक्तपात, आतंक का उपयोग करते हुए। कैथोलिक चर्च उपयुक्त प्रयोजन हेतु अंतर्राष्ट्रीय नौकरशाही चला रहा है। सउदी अरब ने सुन्नी संप्रदाय के विस्तार के लिए सर्वत्र योजनाएँ चला रखी है, तो ईरान शिया मतवाद के प्रचार हेतु। भारत प्रशासन भी क्यों न हिंदू धर्म के प्रचार हेतु सन्नद्ध हो? सेक्यूलर अमेरिका ईसाई मत का प्रचार कर सकता है तो सेक्यूलर भारत हिंदू धर्म का क्यों नहीं? क्यों न हम भी धर्मार्थण का यह खेल खेलें? इस खेल से बाहर रहकर हम अपने अस्तित्व पर संकट बुला रहे हैं। वैसे भी सन् 1991 ई से पहले आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद रूपी गलत खेलकर हम अपनी भद्र पिटवा चुके थे। नेहरू की मूर्खता को हम सांस्कृतिक क्षेत्र में जितनी जल्दी त्यागें, उतना ही अच्छा। भारतीय शिक्षा प्रणाली पर वामपंथी वर्चस्व के कारण कम लोग ही जानते हैं कि कोहिनूर हीरा छीनने में ईसाई मिशनरियों का हाथ था।

केवल हिंदुओं को ही नहीं, सिखों को भी ईसाई बनाने का समाचार आता रहता है। असंतुष्ट सिख नेता संसदद्वारा धर्मांतरण विरोधी अधिनियम बनाने का माँग करते रहे हैं। ईसाई मिशनरियों का तर्क था कि ‘चूँकि ईसाई पंजाबऔर पूरे भारत में अल्पसंख्यक हैं, इसलिए वे किसी का भी धर्मांतरण कैसे भी करा सकते हैं।’ जस्टिस नियोगी आयोग और जस्टिस बधवा आयोग की रिपोर्ट से मिशनरियों के लक्ष्य, कार्य-प्रणाली, आदि को समझा जा सकता है। जस्टिस नियोगी आयोग (1956) ने स्पष्ट कहा था कि ईसाई धर्मांतरण राष्ट्र विरोधी प्रवृत्ति उभारता है। पूर्वी तिमोर इंडोनेशिया से स्वतंत्र हो गया क्योंकि ईसाई वहाँ बहुसंख्यक हो गए थे। उत्तर-पूर्व भारत में राष्ट्र द्वोही गतिविधियों से मिशनरी संलिप्तता स्पष्ट रूप से रेखांकित की गयी है। माओ ने मिशनरियों को ‘आध्यात्मिक हमलावार’ मानते हुए उनको चीन से निकाल दिया था। गांधीजी के अनुसार मिशनरियों के लिए सेवा का अर्थ वही है जो शिकारी के लिए अपने शिकार हेतु चारे का होता है। उन्होंने कहा था कि ‘यदि मेरे हाथ में कानून बनाने की शक्ति हो तो मैं सभी धर्मांतरण बंद करवा दूंगा।’ परंतु भारतीय संविधान ने धारा 25 के अनुसार धर्म प्रचार का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार किया है। यह किसी अन्य देश के संविधान में सामान्य अधिकार के रूप में भी स्वीकृत नहीं है। मिशनरी बहुत प्रसन्न हैं।

‘युगों पुराना भारत मृत नहीं है और न ही उसने अपनी चरम सृजनात्मक वाणी का उच्चार किया है; भारत जीवित है और अभी भी उसे अपने लिए और मानव-जाति के लिए बहुत कुछ करना है। और जिसे अब जाग्रत होने का प्रयास करना चाहिए वह अंग्रेजियत अपनाने वाली पूर्व की जनता, पश्चिम की आज्ञापरायण शिष्य नहीं, बल्कि जागना चाहिए उस पुरातन अविस्मरणीय शक्ति को जो अपने गहनतर स्वरूप को पुनः प्राप्त करे और अपने धर्मके सम्पूर्ण अर्थ एवं व्यापक स्वरूप की खोज में लग जाय।’ श्री अरविंद ने कहा था।

परंतु क्या मैकाले द्वारा सृजित शिक्षा प्रणाली द्वारा हम अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं? विलियम एडम, लिटनर तथा मुनरो के साक्ष्य के आधार पर हम पुरातन शिक्षा-व्यवस्था के कल्याणकारी स्वरूप को समझ सकते हैं। शिक्षा का भारतीयकरण युग की माँग है। वामपंथी, मिशनरी तथा जिहादी मानविकता वाले इसका अवश्य विरोध करेंगे। एक हिंदी संपादक ने हनुमानजी को ‘पहला आतंकवादी’ और श्री राम को ‘अत्याचारी’ कहा था। वामपंथी इतिहासकार डी एन झा ने श्री कृष्ण के लिए भद्री टिप्पणी की थी। गणेश चतुर्थी के दिन फिल्म निदेशक राम गोपाल वर्मा ने अभद्र बात कही थी। कांग्रेसी नेता मणिशंकर अयर के लिए गो माँस भक्षण सेक्यूलर निष्ठा का प्रमाण है। उपयुक्त बातें जन्मना हिंदुओं की हिंदुत्व की गलत समझ का प्रमाण है। ऐसा है मैकाले प्रणीत शिक्षा की स्वीकार्यता के कारण। भारतीय शिक्षा पद्धति जिसे गांधीजी ने ‘the beautiful tree’ कहा था, नष्ट कर दी गयी। शिक्षा का अधिकार

अधिनियम के कारण धीरोदात्त परंतु अकिञ्चन हिंदू अब विद्यालय की स्थापना कर धर्म की सेवा नहीं कर पाएंगे। परंपरा-प्रक्षालित ज्ञान अब कठिन होता जाएगा।

भारत के सभी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों का नियंत्रण राष्ट्रपति महोदय करते हैं। परंतु प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से लेकर प्रणव मुखर्जी तक किसी भी राष्ट्रपति ने परंपरागत हिंदू धर्मशास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। ऐसे एक भी राष्ट्रपति नहीं हुए जिन्होंने किसी हिंदू मठ, आश्रम, गुरुकुल या परंपरागत विद्यालय में प्रवाप्त पढ़ाई की हो। किंतु संसार में ऐसा सर्वत्र नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) के सभी राष्ट्रपति – जार्ज वाशिंगटन से ओबामा तक – ‘ईसाई मत के निष्ठावान विद्यार्थी रहे हैं। पर भारत में ऐसा नहीं होता। यूरोपीय देशों के राजा, रानी एवम् राष्ट्रपति चर्च द्वारा संचालित विद्यालयों के छात्र रहे हैं। तब क्या आश्चर्य कि भारत की पारंपरिक शिक्षा नास्तिकों के एक समूह - मार्क्सवादियों - द्वारा नष्ट होने के कगार पर है। हिंदुओं को अपने धर्म, परंपरा, संस्कृति के ज्ञान से राजकीय प्रावधानों का सहारा लेकर बलपूर्वक विचित करना हमारे मानवधिकारों का उद्दंडतापूर्ण हनन है, जबकि अल्पसंख्यकों को उनके मजहब एवम् रिलिजन का ज्ञान देने के लिए भारत के राजकोष से वित्तपोषण किया जारहा है। यह लोकतांत्रिक मूल्यों के भी विपरीत हैं। विवेकानन्द, श्री अरविंद, आचार्य रघुवीर, नारायण गुरु, रमण महर्षि, रामस्वरूप, सीताराम गोयल की शृंखला में धर्मपाल भी प्रातः स्मरणीय विचारक हुए हैं। धर्मपाल ने शोध कर मौलिक लेखन किया, जो भारत- विषयक मिशनरी, वामपंथी, कांग्रेसी प्रस्थापनाओं, विचारों, निरुपत्तियों तथा निष्कर्षों के सर्वथा विपरीत है। उनके प्रामाणिक वितरणों को (जो प्रायः पराधीन भारत में स्वयं अंग्रेज पदाधिकारियों द्वारा संग्रहीत आंकड़े / विवरण थे) पढ़ना विस्मित करता है, दुःखी भी। सुखद आश्चर्य कि भारत जाति-जकड़ित, अशिक्षित नहीं था, जैसा कि स्वातंत्र्योत्तर कांग्रेसी प्रशासन दिखाता रहा है; दुःखी करने वाला प्रसंग है कि धर्मपाल विद्रू मंडली में अस्पृश्य बने रहे हैं। आज आवश्यकता है कि भारतीय छात्र धर्मपाल, राम स्वरूप, सीताराम गोयल, अरविंद, टैगोर, विवेकानन्द, आदि को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस बोझिल वातावरण में शंकर शरण एवं विजय कुमार विरचित ‘आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी’ नामक पुस्तक भी पढ़ी जानी चाहिए। अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली से निकली यह पुस्तक आशा का संचार करती है। प्रो.(डॉ.) शंकर शरण हमें आश्वस्त करते हैं कि भारतीय विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र चेता मनीषी भी हैं।

अंग्रेजों ने 18-19 वीं शताब्दी में भारत में अनेक सर्वेक्षण कराये थे। उनसे पता चलता है कि 19वीं सदी के आरंभ तक ब्रिटेन शिक्षा, कृषि, उद्योग, तकनीक, चिकित्सा, विज्ञान, समाज-व्यवस्था आदि किसी भी क्षेत्र में भारत से आगे नहीं था। अंग्रेजों के विवरणों में इस बात पर निराशा व्यक्त की गयी है कि भारत में उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग जैसा कोई भेद खोजना कठिन है। भारत में सामान्य जन को किसी

से स्वयं के ‘नीच’ होने का बोध नहीं था। राह चलते लोगों के कपड़ों आदि से ही अंग्रेजों को पता चलता था कि किसी की सामाजिक-आर्थिक स्थिति क्या थी। धर्मपाल का प्रमुख शोध भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर है। उनका स्पष्ट मत है कि ब्रिटिश-पूर्व भारत में सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली थी, जो इंगलैण्ड के मानकों से गुणवत्ता, व्यापकता एवम् पद्धति, तीनों में ऊँची थी। तत्समय शिक्षा तंत्र में तथाकथित निम्र जातियों के छात्र एवम् शिक्षक दोनों बहुसंख्यक थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, कैवर्त, गोप, चर्मकार, डोम, नापित, आदि हर जाति के छात्र एवम् शिक्षक होते थे। स्पष्ट है कि भारत में शिक्षा एक छोटे वर्ग तक सीमित नहीं थी। इन संग्रहीत आंकड़ों से यह धारणा भी गलत सिद्ध होती है कि तथाकथित निम्र जातियाँ शताब्दियों से अशिक्षित थीं। न ही उच्च शिक्षा पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। धर्मशास्त्रों, आयुर्वेद, संगीत, नाट्यशास्त्र, नृत्य, विविध शिल्पों, पुराणों के विशेषज्ञता वाले उच्च अध्ययन में ब्राह्मणेतर जातियाँ ही बहुसंख्यक थीं, जिनमें कायस्थ, वैश्य, शुद्र तो थे ही, तथाकथित दलित वर्ग के विद्यार्थी बड़ी संख्या में थे। स्पष्ट है कि मिशनरी, वामपंथी छल-छद्य के कारण हिंदू समाज स्मृतिभ्रंश का शिकार बना हुआ है। विचार-भीति त्यागना भी अत्यावश्यक है।

कर्णाटक और मध्यप्रदेश में गीता की पढ़ाई का विरोध ईसाई, मुस्लिम और वामपंथी बुद्धिजीवियों ने किया। कालजयी हिंदू ग्रंथों - वेद, उपनिषद, रामायण और महाभारत - को न तो धर्म ग्रंथ का सम्मान मिला और न ही ज्ञान भंडार का। निंदा, आलोचना करने के लिए ये पुस्तकें ‘एकेडेमिक’ हो जाती हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भर्त्सना करने के लिए ‘मेनी रामायन्स’ का पाठ डालने की चेष्टा की जाती है। जब इन्हीं ग्रंथों को पाठ्यक्रम में डाला जाता है, तब धार्मिक कहकर इनका विरोध होता है। इतना ही नहीं, शिव, राम और कृष्ण का भी अनादर ये करते हैं। जबकि जीसस आदि के विषय में उपलब्ध विचित्र और धर्मविलम्बियों के लिए दुःखदायी ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख भी करने से करताने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। ब्रिटिश कालखंड में भी उपयुक्त हिंदू ग्रंथों का पठन-पाठन विद्यालयों में होता था। हमारे बच्चे सांस्कृतिक दृष्टि से निरक्षर नहीं थे। भारत के कर्मठ और लोकप्रिय प्रधानमंत्री मोदी को दिल्ली के ‘आम’ से खास बने वामपंथी मुख्यमंत्री के जरीवाल ने ‘कायर’ एवं ‘मनोरोगी’ कहने का दुस्साहस किया है। कुछ वर्ष पूर्व कांची पीठ के शंकराचार्य स्वामी जयेन्द्र सरस्वती को हत्यारा कहा गया। विहार एवं झारखंड के मंदिरों से देव-मूर्तियाँ चोरी की जा रही हैं। स्पष्टतः हिंदू मान-बिंदुओं पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रहार हो रहे हैं। हिंदू मन आहत है, विचलित है।

मिथ्या आर्य आक्रमण आव्रजन सिद्धांत गढ़कर ‘आदिवासी’ एवं ‘विदेशी’ के रूप में हिंदुओं को बाँटा जा रहा है, जबकि किसी संस्कृत शब्दकोश में आदिवासी शब्द ही नहीं है। हिंदुओं के देवता भी ‘स्थानीय’ एवं ‘बाहरी’ के रूप में बाँट दिए गए -

ब्रह्मा विदेशी हैं, विष्णु आधे देशी आधे विदेशी, शिव स्थानीय हो गए। क्यों न सच कहा जाए। मूलतः हिंदुओं द्वारा मोदी का प्रधानमंत्री के रूप में निर्वाचन ने मुसलमानों के ‘बीटो’ को समाप्त कर दिया है। तोड़ने की प्रक्रिया तंग की जा रही है। ‘आदिवासी’ शब्द 300 वर्ष पुराना भी नहीं। तथाकथित आर्य देवता ब्रह्मा के लिए तथाकथित आर्य क्षेत्र - उत्तर भारत में केवल एक मंदिर है पुष्कर, राजस्थान में। जबकि ‘अनार्य’ देवता शिव काले न होकर श्वेत वर्ण के हैं, उत्तर भारत के गाँव-गाँव में पूजित हैं। वहीं ‘आर्य’ देवता इंद्र श्वेत वर्ण के नहीं हैं, न ही उत्तर भारत में संप्रति लोकप्रिय देवता के रूप में पूजित हैं। अब विद्वान् ग्रीक देवता Dionysus को भगवान् शिव से, जर्मन देवता Vidharr को भगवान् विष्णु से तथा वैदिक देवता इंद्र को ThorैJupiter से जोड़ रहे हैं। यहीं नहीं, लात्विया का प्राचीन धर्म Dievturiba तथा लिथुवानिया का स्थानीय धर्म Romuva की वैदिक धर्म सेनिकटा बतायी जा रही है। वस्तुतः यह भारत-केन्द्रित सांस्कृतिक सातत्य है, न कि आर्य-द्रविड़ भेद।

लिथुवानिया, सोवियत संघ से अलग हुआ नवोदित राष्ट्र, भारत-केन्द्रित सांस्कृतिक सातत्य का अंग रहा है। वहाँ की भाषा में संस्कृत की सातों विभक्तियाँ उपलब्ध हैं, प्रचलित हैं। यहाँ तक कि रूसी भाषा भी संस्कृत के बहुत निकट है। संस्कृत के समान रूसी भाषा में दो के लिए द्वा, तीन के लिए त्रि, चार के लिए चतुरी आदि हैं। ‘प्याला’ के लिए संस्कृत के ‘चप’ शब्द का प्रयोग होता है। जापान में शिंगोन नामक तांत्रिक संप्रदाय के मंदिरों की संख्या बहुत अधिक है। शिंगोन की पूजा संस्कृत में संपत्र होती है, जिसमें -अशरजो’ नामक पुस्तक प्रयुक्त होती है, जो संस्कृत बीज-मंत्रों का संकलन है। जैसा कि अभी-अभी माक जकरबर्ग, फेसबुक के संस्थापक ने कहा कि हिंदू मंदिर जाकर उन्हें प्रेरणा मिली, हिंदू-जीवन पद्धति सांसारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक निःश्रेयस दोनों सुनिश्चित कराती है। तब पप्पू पर तरस आता है, जिसे मंदिर जाने वालों में लड़कियों को छेड़ने वाले दिखायी देते हैं।

हमारे शिक्षा-संस्थानों को जकड़कर बैठे कम्युनिस्टों से आज देश को बहुत खतरा है। ये मार्क्सवादी इस संसार में—अर्थ जगत् में, मनोजगत में, साहित्य में, ब्रह्माण्ड में—सर्वत्र केवल पदार्थ की भूमिका स्वीकार करते हैं। किसी उच्चतर चेतना के अस्तित्व को नहीं मानते। सोवियत संघ में आइंस्टीन के सापेक्षता के सिद्धांत को दशकों तक निंदित किया जाता रहा; इसलिए नहीं कि उन्होंने कुछ ऐसा खोज लिया था जो आईंस्टीन के सिद्धांतों की कतिपथ निष्पत्तियाँ मार्क्स के विचारों के विरुद्ध प्रतीत हो रही थी। ये वामपंथी हमें वैज्ञानिक विचार-प्रणाली पर भाषण पिलाते हैं। ये निरीश्वरवादी ऐसे बात करते हैं मानो ईश्वर के शब को अभी-अभी देखकर आए हैं; हमारी पंरपराओं की ये वामपंथी निंदा करते हैं, मानो परंपरा और आधुनिकता परस्पर विरोधी हैं, मानो हिंदू परंपराएँ जीवाश्म (fossil) हैं। ये हर तरह के देश-द्वोह, समाज-द्वोह की बढ़ावा देते हैं। स्पष्टतः हमारे शिक्षा-तंत्र को इनसे मुक्त कराया जाना अत्यावश्यक है।

## कोसी अंचल के कहानीकार : दिशा और दृष्टि

डॉ. वरुण कुमार तिवारी

हिंदी कहानी का स्रोत बहुत प्राचीन है। वेद, पुराण, ब्राह्मण तथा उपनिषद् में संस्कृत पद्य तथा गद्य में विविध कहानियाँ मिलती हैं। महाभारत में तो छोटी बड़ी कहानियों का अक्षय भंडार ही है। संस्कृत कहानियों के अनुवाद के अतिरिक्त उर्दू-फारसी के अनुवाद भी हिंदी कहानियों के स्रोत हैं। साथ ही, बांगला और अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद भी हिंदी कहानियों के स्रोत के रूप में परिणित किए जा सकते हैं। लेकिन हिंदी कहानी पूर्व रचित कहानी की नकल नहीं है, मात्र आधार संरचना है। हिंदी कहानी देश काल स्थिति के अनुसार समयोचित रूप में स्वयं अपनी विशेषताओं के साथ स्थापित-प्रतिष्ठित हुई। सरस्वती पत्रिका ने 1900 ई. में हिंदी कहानी को प्रकाशित कर इसे पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित कर दिया।

हिंदी कहानी रचना को नवीनता और सुघड़ता प्रदान करनेवाले हैं जयशकर प्रसाद और प्रेमचंद। जयशंकर प्रसाद ने हिंदी कहानी को भारतीय इतिहास के गौरव से संयुक्त किया तो प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को जीवन के सुख दुःख के स्वर से ध्वनित किया। प्रसाद ने हिंदी कहानी को कला पक्ष से सँवारा और प्रेमचंद ने भाव पक्ष से। प्रेमचंद ने समाज का चित्रण करते समय संयुक्त परिवार, नारी-शोषण, धनी वर्गों का दमन, रिश्वतखोरी, चोरी-जारी, नशेबाजी, कुशासन, भ्रष्टाचार इत्यादि सामाजिक बुराइयों का पर्दाफाश करते हुए आदर्श और यथार्थ का मिश्रित समन्वय उपस्थित किया।

पचास के दशक से 'कहानी' साहित्य की प्रमुख विधा बन गई। 'नई कहानी' के बीज प्रेमचंद, जैनेंद्र, अङ्गेय आदि कथाकारों में प्राप्त होते हैं। 'नई कहानी' की प्रतिष्ठा का समय 1955 ई. में भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में निकले 'कहानी' पत्रिका के विशेषांक से माना जाता है। इस समय अपने परिवेश के प्रति अत्यंत जागरूक कथाकारों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी सृजनरत रही। इसके बाद तो कथाकारों का दौर

चला। फलस्वरूप कहानी विधा की खूब चर्चा हुई और कहानी को साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप में मान्यता मिलती रही। 'नई कहानी' के बाद 'अकहानी', 'सचेतन कहानी', 'सहज कहानी', 'समांतर कहानी' 'सक्रिय कहानी' आदि कथा आदोलन सामने आए और सातवें दशक के बाद 'समकालीन हिंदी कहानी' को प्रतिष्ठा मिल गई।

कोसी अंचल के प्रारंभिक कहानीकार हैं जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' तथा अनूपलाल मंडल। कवि, कथाकार, समालोचक एवं रेखाचित्रकार 'द्विज', बिहार में छायावादी काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अज्ञात और अङ्गेय के प्रति जिज्ञासा एवं सौंदर्य के प्रति प्रबल आकर्षण स्वच्छंदतावाद की मूल प्रवृत्ति है। साथ ही, सामाजिक विषमताओं के प्रति विद्रोह के स्वर भी इसमें परिलक्षित होते हैं। 'द्विज' (1904-1964) जी की कहानियाँ इसी स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति से परिचालित थीं। 'द्विज' के चार कहानी संग्रह हैं—किसलय (1929), मालिका (1930), मूदुदल (1932) तथा मधुमयी (1937)। इनकी कहानियों में वैयक्तिक तथा समय-समाज की पीड़ा की अभिव्यक्ति तो है ही, मानवीय संबंधों की अतल गहराइयों का भी सूक्ष्म चित्रण है। शैली की दृष्टि से द्विज जी का कथानक यथार्थ और छायावादी ताने बाने से बुना हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत था कि 'द्विज' जी की कहानियाँ गुलेरी जी की सामान्य घटना प्रधान कहानी 'उसने कहा था' और चंडी प्रसाद 'हृदयेश' जी की 'उन्मादिनी' कहानी का मनोरम समन्वय उपस्थित करती हैं।

'सुधांशु' (1906-1974) जी की आलोचनात्मक पुस्तक 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' अपने विषय में किसी भी भारतीय भाषा में लिखी गई संभवतः सर्वप्रथम पुस्तक है। दूसरी आलोचनात्मक कृति 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' ने 'सुधांशु' जी को आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सुयोग्य उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 'रस रंग' एवं 'गुलाब की कलियाँ' उनके कथा संग्रह हैं। 'रस रंग' में काव्य के रूपों-रसों को आधार बनाकर कथाओं को रचा-बुना गया है। इन कहानियों में कथा की स्वाभाविक रोचकता के स्थान पर सोदेश्य, संकलित, सुचिंतित भावों की प्रतिष्ठा हुई है।

प्रसाद परंपरा के कथा-लेखक अनूपलाल मंडल (1896-1982) मुख्यतः उपन्यास लेखक हैं। प्रेमचंद के समकालीन मंडल जी के उपन्यासों में समकालीन सामाजिक विषमताओं का विरोध, स्त्री जाति के प्रति गहरी संवेदना और मानवीयता की रक्षा का स्वर प्रधान है। उनका 'उपदेश की कहानियाँ' शीर्षक संग्रह छोटे छोटे बच्चों के चरित्र निर्माण में सहायता के उद्देश्य से लिखा गया है। 'उपनिषदों की कथाएँ' शीर्षक संग्रह में उपनिषदों की कथाओं को सहज सरल भाषा में लिखने के पीछे दार्शनिक तत्वों के विवेचन का उद्देश्य न होकर उपनिषद की कथाओं में आए महत्वपूर्ण और गूढ़ विषयों

संपर्क: प्लाट नं. 398 (यू. जी-1), सेक्टर-4; वैशाली (गाजियाबाद)-201010; मो. 08860478066

का सरल प्रतिपादन करके पाठकों को वस्तु-बोध कराने का लक्ष्य रहा है। इनकी 'आत्म-मर्यादा' शीर्षक कहानी 1928 ई. में 'चाँद' (मासिक) में छपी थी।

प्रेमचंद की परंपरा को नया आयाम देनेवाले कोसी अंचल के कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' (4 मार्च 1921-11 अपैल 1977) के कथा साहित्य में भारत के ग्रामीण अंचल के प्रामाणिक एवं जीवंत चित्र देखने को मिलते हैं। 'ठुमरी' (1959), 'आदिमरात्रि की महक' (1967), मेरी प्रिय कहानियाँ' (1983) 'एक श्रावणी दोपहर की धूप' (1984), 'अच्छे आदमी' (1986) इत्यादि उनके कहानी संग्रह हैं। 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम', 'लाल पान की बेगम', 'संवदिया', 'सिरपंचमी का सगुन' आदि उनकी प्रतिनिधि एवं महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं, जो लोक जीवन से ओत प्रोत हैं। उनकी कहानियाँ के सारे पात्र गाँव की मिट्टी से जुड़े हैं। रेणु की कहानियाँ में ग्रामीण जीवन का यथार्थ सूक्ष्म रूप में उपस्थित है जिनमें मानवीय करुणा का अजस्र स्रोत बहता रहता है।

कोसी अंचल के राजकमल चौधरी (जन्म 13 दिसंबर 1929-19 जून 1967) छठे-सातवें दशक के महत्वपूर्ण कवि-कथाकार हैं, जिन्होंने हिंदी के साथ-साथ मैथिली में भी विपुल लेखन किया। 'मछली जाल', 'सामुद्रिक एवं अन्य कहानियाँ', 'राजकमल चौधरी: संकलित कहानियाँ' इत्यादि उनके हिंदी कहानी संग्रह हैं। वे अमेरिका की बीट पीढ़ी, बंगाल की भूखी पीढ़ी तथा हिंदी के अकविता आंदोलन से प्रभावित रहे। ये तीनों आंदोलन व्यवस्था के विरुद्ध वैयक्तिक सत्ता और उस पर आरोपित किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों से मुक्ति के आत्मसंघर्ष से संबद्ध रहे हैं। उन्होंने अपनी कहानियाँ-कविताओं के मार्फत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण को सर्वाधिक नंगे रूप में प्रस्तुत किया। इसलिए उन पर अश्लीलता का आरोप भी लगता रहा। लेकिन यह सच है कि अभिजात्य वर्ग की अनैतिकता का उद्घाटन उन्होंने जिस जीवट और साहस के साथ किया है, वह रेखांकनीय है।

डॉ. मधुकर गंगाधर (जन्म 7 जनवरी 1932, झलारी, पूर्णिया) नई कहानी आंदोलन के दौर के प्रमुख कहानीकार हैं। आकाशवाणी निदेशालय एवं विदेश प्रसारण सेवा, नई दिल्ली से निदेशक पद से सेवा मुक्त होकर संप्रति वे दिल्ली में रह रहे हैं और तटस्थ भाव से हिंदी कहानी के उतार चढाव को देख रहे हैं। तीन रंग: तेरह चित्र (1958), हिरण्या की आँखें (1961), नागरिकता के छिलके (1972), 'गर्म गोश्त: बर्फीली तस्वीर (1975-76), शेर छाप कुर्सी (1976), गाँव कसबा नगर (1982), उठे हुए हाथ (1984), सौ का नोट (1984), बरगद (1986) आदि इनके कहानी संग्रह हैं। हाल में चार खंडों में इनकी चयनित कहानियों के संग्रह मुकुल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुए हैं। कोसी अंचल के इस कथाकार की कहानियों में कोसी की पाटों में बसे मजदूरों, किसानों, मछुवारों, घटवारों की आशाओं, आकांक्षाओं, संघर्षों और पीड़ाओं का मार्मिक अंकन है। पुराने मूल्यों की जगह नए मूल्यों की स्थापना का संघर्ष, अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध हस्तक्षेप, सांप्रदायिकता, अफसरशाही के खिलाफ

निर्भीक इजहार, आर्थिक विसंगति के विषेले प्रभाव से नौजवानों के हृदय में उत्पन्न विद्रोह का सशक्त रेखांकन तथा नारी उत्पीड़न का मार्मिक चित्रण इनकी कहानियों में है। इनकी कहानियों में गँवई-गँव की सोंधी खूशबू है, लेकिन वे नगरीय जीवन के मूल्य विघटन, बिखराव, विकृतियों एवं विद्रूपताओं को भी बड़ी सहजता से उकेरते-उधाइते चलते हैं।

पचास के दशक में कहानियों में कोसी नदी की विभीषिका एवं उससे संबंधित करते कोसी अंचल के लोगों की पीड़ा, पुरुषार्थ, जीवटता एवं जिजीविषा का मार्मिक रेखांकन करने वाले ललितेश्वर मल्लिक की कथाकृति का नाम है—'सप्तकोसी'। 'सप्तकोसी' (1961) में सात कहानियाँ हैं। प्रकाशक स्वयं लेखक हैं और पुस्तक जन-सहयोग प्रेस, सुपौल से मुद्रित है। पुस्तक तत्कालीन श्रम, संयोजन और नियोजन मंत्री, भारत सरकार, गुलजारी लाल नंदा को समर्पित है। शिवनंदन प्रसाद (तत्कालीन विभागाध्यक्ष, पटना कालेज, पटना) ने पुस्तक के संबंध में लिखा है—'इन रचनाओं में कोसी क्षेत्र की विभीषिका और उससे लड़ते हुए मनुष्य के पुरुषार्थ की मार्मिक तस्वीर उत्तर सकी है।' प्रो. हरिमोहन छांवा ने अपना अभिमत इन शब्दों में व्यक्त किया है—“श्री मल्लिक जी की 'सप्तकोसी' सात तस्वीरों का ऐसा अलबम है, जिसमें कोसी अंचल के मर्मस्पर्शी जीवन को अत्यंत कोमल तूलिका से अंकित किया गया है। इसमें कोसी तट के करुण दृश्यों को इतने यथार्थ और हृदयग्राही रूप में चित्रित किया गया है कि वे अपनी संपूर्ण व्यथा, विकलता और वेदना के साथ मूर्तिमान हो जाते हैं।”

आंचलिक परिवेश को लेकर साहित्य सृजन करना यद्यपि एक चुनौतीपूर्ण कार्य है, लेकिन कोसी अंचल के कथा-लेखक शालिग्राम (जन्म 21 मई 1934) ने अपनी कहानियों में इसका बखूबी निर्वाह किया है और कोसी बराज (भीमनगर) से लेकर कुरसेला (जहाँ कोसी गंगा में मिलती है) तक के तट के बीच के लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक जीवन को सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है। इनके कहानी संग्रह 'पाही आदमी' (1963) के फ्लैप पर रेणु ने लिखा है—“हिंदी साहित्य में 'आंचलिक लेखन और आंचलिकता' एक विवाद का विषय बना हुआ है। शालिग्राम जी का प्रथम कथा-संग्रह 'पाही आदमी' इस चर्चा परिच्छया के लिए प्रचुर सामग्री लेकर प्रकाशित हो रहा है।”

नवरंग जायसवाल (13 मार्च 1928-5 जुलाई 2011) का कहानी संग्रह 'तुम अपना बयान जारी रखो' रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया से 2004 ई. में प्रकाशित हुआ है। इनकी कहानियों में नारी-अस्मिता के संघर्ष का प्रभावशाली चित्रण है जो पारंपरिक सोच पर प्रहार कर पाठक को नई दिशा में सोचने को विवश करता है और वैचारिक बदलाव का बीजारोपण करता है। फारबीसगंज शहर के कहानीकार राधा प्रसाद (1915-2003) की कहानियाँ 'हंस', 'विशाल भारत', 'अवर्तिका', 'चिंगारी' इत्यादि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। उन्होंने 1955 ई. में 'आपकी कहानियाँ' नामक

मासिक पत्रिका का नौ महीने तक संपादन भी किया था। इनकी कहानियों में आजादी के पूर्व के लेखन का एक अलग मिजाज दिखता है। इनकी कहानियाँ बताती हैं कि इस उत्तर आधुनिक समय में भी मानव जीवन का यथार्थ पहले जैसा ही त्रासद एवं विडंबनापूर्ण है। विश्वनाथ दास ‘देहाती’ (जन्म-1929, जगन्नाथपुर, पूर्णिया) के कहानी संग्रह ‘पत्थर के टुकड़े’ (1963) के बारे में अनूपताला मंडल ने लिखा था-‘यह पुस्तक मुझे ‘याद’ से भी अच्छी लगी है। मेरा विश्वास है-निकट भविष्य में ये साहित्य गगन में सितारे बनकर चमकेंगे।’ भवेशनाथ पाठक (जन्म 1934, भैंसदीरा, कटिहार) के कहानी संग्रह ‘मानव का महाप्रस्थान’ (1991) में मनुष्य की असीम क्षमता, मेधा एवं बुद्धि चारुर्थ को महिमांदित किया गया है। सरला राय (1937-2002) सकारात्मक मूल्यों की लेखिका हैं, जिनकी रचनाओं में ऐसे आदर्श चरित्रों के चित्रण मिलते हैं, जो आज के अंधेरे समय में भी समाज में कहीं न कहीं अपवाद स्वरूप बचे हुए हैं। ‘नया माधो’ नामक उनकी एक कहानी प्रेमचंद की ‘कफन’ कहानी में विधुर हो गए पात्र माधो की जीवन गाथा है। उनकी नौ कहानियों का एक संग्रह ‘जागती आँखों का स्वप्न’ (1997) प्रकाशित हुआ है। शैली शिल्प में किसी चमत्कार के नहीं होने के बावजूद इनकी कहानियाँ पाठकों के हृदय को छू लेती हैं।

रेणु के बाद रचनात्मकता में सक्रिय भूमिका निभानेवाले एवं राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी कहानी में अपनी उपस्थिति दर्ज करानेवाले कोसी अंचल के कहानीकार हैं—रामधारी सिंह ‘दिवाकर’, चंद्रकिशोर जायसवाल, विजयकांत एवं सुरेंद्र प्रसाद साह। ‘अकहानी’-आंदोलन के प्रभाव में ‘विदादृष्टि’ (धर्मयुग 71 ई.) जैसी सशक्त कहानी लिखनेवाले रामधारी सिंह ‘दिवाकर’ (जन्म 1945) आठवें दशक के महत्वपूर्ण कथाकार हैं। वे मूलतः ग्रामीण संवेदना के साहित्यकार हैं। श्री दिवाकर सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक व्यवस्था में सुपरिचित चेहरों के माध्यम से गाँव के बदलते हुए सामाजिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश करते हैं। ‘नए गाँव में’ (1976), ‘अलग अलग अपरिचय’ (1978), ‘बीच से टूटा हुआ’ (1995), ‘नया घर चढ़े’ (1987), ‘सरहद के पार’ (1990), ‘धरातलः’ (1997), ‘मखान पोखर’ (1998), ‘माटी पानी’ (1999) इत्यादि उनके कहानी संग्रह हैं।

‘नकबेसर कागा ले भागा’, ‘दुखिया दास कबीर’, ‘विसनपुर प्रेतस्य’, ‘हिंगवाधाट में पानी रे’, ‘मर गया दीपनाथ’, ‘आखिरी ईंट’, ‘तर्पण’ आदि अप्रतिम कहानी लिखने वाले चंद्र किशोर जायसवाल (जन्म 1940) ने अपनी कहानियों में प्रेमचंद और रेणु के बाद के गाँवों के परिवर्तित स्वरूप को चित्रित किया है। ‘मैं नहि माखन खायो’ (1983), ‘नकबेसर कागा ले भागा’ (1988), ‘मर गया दीपनाथ’ (1997), ‘हिंगवाधाट में पानी’ (2002), ‘दुखिया दास कबीर’ (2003), ‘किताब में लिखा है’ (2003), ‘तर्पण’ (2006) इत्यादि उनके कहानी संग्रह हैं। इनकी कुछ कहानियों का नाट्य रूपांतरण भी हुआ है। इनकी कथात्मक प्रवृत्ति सकारात्मक संचेतना से संपृक्त यथार्थ अभिव्यक्ति

की है, जिसमें आशावाद का स्वर मुखर रहता है। ये प्रेमचंद एवं रेणु की तरह ‘कथापन’ की रक्षा करते हैं और जिज्ञासा को जगाए रखते हैं। श्री जायसवाल पात्रों के मनोलोक में प्रवेश कर कहानी के भीतर कहानी रखते हैं। इनकी कहानियों का यथार्थ इनका जाना-समझा-परखा हुआ होता है।

विजयकांत (जन्म दिसंबर 1947, झलारी, पूर्णिया) की कहानियाँ ग्रामीण समाज में विभिन्न स्तरों पर विद्यमान शोषण के चक्रव्यूह की गहन पड़ताल करती हैं तथा उसके विरुद्ध आवाज उठाने की जरूरत को गंभीरता से रेखांकित करती हैं। आठवें दशक में ‘जनवादी कहानी आंदोलन’ के दौर में इनकी विशिष्ट पहचान बनी। इसी दशक में उनके ‘बीच का समय’ (1983) और ‘ब्रह्मफाँस’ (1990) शीर्षक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। ‘ब्रह्मफाँस’ कहानी संग्रह में उपस्थित आंचलिकता के सायास प्रयोग को प्रसिद्ध कथाकार अरुण प्रकाश ‘अंचल के जरिए समूचे देश का चेहरा उपस्थित करने’ का प्रयास मानते हैं। समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर से प्रकाशित उनके अन्य दो कहानी संग्रह हैं—‘लीलावती’ और ‘मायावती’। ‘मायावती’ कहानी संग्रह पर अरुण प्रकाश का अभिमत है—‘विजयकांत ‘लीलावती’ में सामाजिक न्याय के नाम पर की जानेवाली राजनीति के भीतर मौजूद प्रश्नों को खोलकर रख देते हैं।’ सुरेंद्र प्रसाद साह (जन्म 1942, अररिया जिलान्तर्गत सोनापुर गाँव) की कहानियाँ गाँव-शहर एवं कस्बाई जन-जीवन की सामाजिक विडंबनाओं की गहराई से पड़ताल करती हैं तथा मूल्यहीन मानसिकता एवं स्वार्थी तत्वों के दुष्यक्र में पिसते आम आदमी की पीड़ा को समग्रता में उद्घाटित करती हैं। ‘अजगर’, ‘सतह के नीचे’ तथा ‘नया चक्रधर’ (2000) उनके कहानी संग्रह हैं।

व्यंग्य लेखन के लिए प्रसिद्ध प्रो. कमला प्रसाद ‘बेखबर’ (18 जनवरी 1933, 1 अक्टूबर 2015) ने उपन्यास, कहानी, काव्य, एकांकी, प्रहसन, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में पर्याप्त लेखन किया। ‘बेखबर’ के कहानी संग्रह ‘विद्या ठकुराइन’ (1997) की कहानियाँ समसामयिक विषयों से जुड़ी हुई हैं। इन्होंने व्यक्ति, व्यक्ति मन अथवा जीवन से जुड़ी किसी न किसी समस्या को कथ्य के रूप में चुना है। इनकी कहानियाँ आजादी के बाद जनता के मोह भंग, राजनेताओं के स्वार्थ तंत्र, आर्थिक विषयमता एवं तज्जनित संत्रास की कहानियाँ हैं, जो नई कहानी की पीछिका हैं। कृतनारायण प्यारा (जन्म 1936) की कहानियों में कल्याण एवं सर्वहित की ‘भावनाएँ प्रधान हैं।’ ‘किंशक कथा’ (2004) इनका महत्वपूर्ण कहानी संग्रह है, जिसकी अधिकांश कहानियाँ प्रेम प्रधान हैं। प्रेम को ये भगवान की अनुपम देन मानते हैं। ‘मिट्टी भर धूप’, ‘आराधना एक नाम’, ‘अंधेरे का कोना’, ‘वनप्रिया’ इनके अन्य कहानी संग्रह हैं। अमरेंद्र मिश्र (जन्म 1954) के छ: कहानी संग्रह हैं—‘गलत नंबर’, ‘प्रेत छाया’, ‘कुछ दूर तक साथ’, ‘उस रात की बात’, ‘संवाद चुपचाप’ और ‘रात भर छत पर’। इनकी कहानियों में समय, समाज, परिस्थितियाँ ही नहीं प्रत्युत संवेदनाओं, स्मृतियों और संघर्षों का भी

आलेखन है। ‘हंस’ में प्रकाशित अपनी पहली कहानी ‘नानी की कहानी’ की कथा दृष्टि के कारण अपनी विशिष्ट पहचान बनानेवाले बैंक अधिकारी कटिहार निवासी धनेशदत्त पांडेय (जन्म 1954) के दो कहानी संग्रह प्रकाशित हैं-‘करमजरुआ’ (1993) तथा ‘नैना जोगिन’ (1998)। ‘हत्थूल’ (हंस, फरवरी 1995) और ‘बूथ नं. 440’ उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। हंस, अक्षरा, वागर्थ, वर्तमान साहित्य आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं प्रशस्ति प्रो. पूनम सिंह (जन्म 1955, जलालगढ़, पूर्णिया) का कहानी संग्रह ‘कस्तूरी गंध तथा अन्य कहानियाँ’ (2009) एक रेखांकनीय कृति है। संकलित कहानियाँ नारीवाद को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं।

‘बत्ति का बकरा’, ‘युद्ध’, ‘हम इतजार करेंगे’, ‘हारे को हरिनाम’, ‘मोको कहाँ ढूँढ़े रे बंदे’, ‘दैया का चौरा’, ‘आखिरी कलम’ इत्यादि विशिष्ट कहानियों के जरिए कथा-जगत में अपनी अलग पहचान बनानेवाले वसंत कुमार राय (जन्म 1955, अररिया जिलान्तर्गत भौजपुर गाँव में) की कहानियाँ हंस, कथादेश, इंडिया टुडे, हिंदुस्तान, वागर्थ, वर्तमान साहित्य इत्यादि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं चर्चित हुई हैं। ‘हारे को हरिनाम’ (2011) इनका कहानी संग्रह है। नए कथ्य-शिल्प के मोह में फैसे बिना लेखक राय ने कथ्य की महत्ता पर जो बल दिया है, उससे इस संग्रह की कहानियाँ समकालीन कथा संसार में अलग ही दिखाई देती हैं। सुबोध कुमार झा (जन्म 1955) ने अपने को अंचलिकता से सायास मुक्त रखा है। ‘हंस’ में प्रकाशित इनकी पहली कहानी ‘सन साठ की डायरी’ ने शिल्प के स्तर पर मौलिकता और शैली की दृष्टि से बोधगम्यता के कारण सबको आकर्षित किया था। उनकी दो अन्य कहानियाँ ‘कतरनी की मेंहदी’ (हंस, मई 1985) और ‘दीनबंधु को किसने मारा’ (वर्तमान साहित्य, कहानी विशेषांक, 1998) भी पाठक को संवेदना के नए धरातल पर ले जाकर नया भाव बोध संप्रेषित करती हैं। प्रो. संजय कुमार सिंह (जन्म 1968, नया नगर, मधेपुरा) की ‘फूलो-अनारो’, ‘टी. वी. में चंपा’, ‘वह सूखे पत्तों का मौसम नहीं था’ इत्यादि कहानियाँ अपने सशक्त कथ्य, यथार्थ चित्रण तथा परिष्कृत भाषा-शिल्प के कारण सर्वाधिक आश्वस्त करती हैं। हाल ही में इनका एक कहानी संग्रह ‘टी. वी. में चंपा’ (2013) सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित होकर आया है। संजीव ठाकुर (जन्म 1967) की लंबी कहानी ‘झौआ बैहार’ (हंस, 1996) ने सबका ध्यान आकर्षित किया था। उनके तीन कहानी संग्रह ‘नौटंकी जा रही है’ (1997), ‘फ्रीलांस जिंदगी’ (2007) और ‘अब आप अली अनवर से’ (2013) प्रकाशित हो चुके हैं। संजीव की भाषिक उच्छृंखलता उनकी कहानी को तीखा तेवर और विद्रोही स्वर प्रदान करती है। कथाकार गौरीनाथ (जन्म 1969, कालिकापुर, सुपौल) की दो दर्जन से अधिक कहानियाँ राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनके संग्रह का शीर्षक है-‘मानुस’ (2007)। ‘नाच के बाहर’ के लिए हिंदी अकादमी, दिल्ली के ‘कृति सम्मान’ से सम्मानित तथा हिंदी में ‘बया’ और

मैथिली में ‘अंतिका’ के संपादक गौरीनाथ में सीधे सादे वर्णनात्मक शिल्प में बड़े कथ्य को सहज ढंग से कहने की अपूर्व शक्ति है।

सत्यकेतु (जन्म 1969) के कहानी संग्रह ‘अकथ’ (2009) की कहानियाँ आमजन की पीड़ा को बेहद संवेदनशीलता के साथ प्रकाश में लाती हैं। कहानियों में स्त्री पात्रों की करुणापूर्ण स्थिति एवं पुरुष पात्रों की स्वार्थी प्रवृत्ति व अराजकता प्रमुखता से रेखांकित हैं। राकेश कुमार की ‘हंस’ में प्रकाशित कहानी ‘शहर में कैबेरे’ उनकी संभावनाओं के प्रति आश्वस्त करती है। विभा रानी एवं अजय ब्रह्मात्मज की कहानियाँ भी ‘हंस’ एवं अन्य प्रतिच्छित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। सांस्कृतिक मूल्यों के पक्षधर भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता (जन्म 1930) मूल रूप से निबंधकार एवं आलोचक हैं। उनकी पंद्रह कहानियों का शीर्षक है-‘यमुना का जल’। सुखदेव नारायण (1922-2012) के संग्रह ‘मझधार’ (2008) की कहानियाँ निम्नवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय आर्थिक परेशानियों को पूरी प्रामाणिकता से अभियक्त करती हैं। हरि दिवाकर (जन्म 1952) के कहानी संग्रह ‘भौजी का होटल’ (2012) में बाजारवाद, राजनीति और अपराध के दुष्प्रकार, प्रशासनिक भ्रष्टाचार एवं वर्ग भेद को बड़े व्यापक परिप्रेक्ष्य में उजागर किया गया है। चंद्रकांत राय (जन्म 1957) के कहानी संग्रह ‘सौरी! नो पॉलिटिक्स’ (1997) की कहानियाँ सामाजिक परिवेश से तो जुड़ी ही हैं, ये परिवेश के उस टुकड़े, जिसे घर या परिवार कहा जाता है, को भी समग्रता में उद्धारित करंती चलती है। धर्मन्द्र कुसुम (जन्म 1959) की अधिकतर कहानियाँ कोसी के जन-जीवन से संबंध हैं। ‘परिणीता’ तथा ‘केंचुल पहने लोग’ कहानी संग्रहों के बाद ‘शाख से दूटे पत्ते’ (1996) उनका तीसरा संग्रह है। यहाँ तक आते-आते लेखक की सृजनात्मक परिपक्वता और प्रतिभा के आयामों को अधिक विस्तार मिला है।

कोसी अंचल के अन्य कहानीकार हैं-देवशंकर नवीन (पहचान, 2001), कुमार भुवनेश (शगुनिया, 2004), देवनारायण पासवान ‘देव’ (आखिरी नवाज, 1995, ‘सत्यनारायण कथा’ एवं ‘यही बाकी निशा होगा’, 2013), परमेश्वर गोयल (अन्तर्दृष्टि, 1994), कल्लोल चक्रवर्ती (जन्म 1966), संगीता रघुवर्षी (पत्थर नगरी : काँच परी, 2000), भोला पंडित ‘प्रणयी’ (मंथरा की विजय-यात्रा, 2001), जनार्दन यादव (यह पद है निरवानी, 2003), अनिलचंद्र ठाकुर (अनत कहाँ सुख पावै, 2008), निरुपमा राय (‘और झारना बह निकला’, ‘खूंटे से समाधि तक’, 2010 एवं ‘चाक पर मिट्टी’, 2013), समरेंद्र प्रसाद देव (लाज, 2008), अनुज प्रभात (बूढ़ी आँखों का दर्द, 2003), आरती स्मित (बदलते पल, 2012), जवाहर किशोर प्रसाद (अनुभूतियों के रंग, 2012), मोती लाल शर्मा (बहुरिया, 2010), रहबान अली राकेश (नीम बाबा, 2010), रामचंद्र यादव (जेठ की धूप, 2011), अरुण अभिषेक (जिंदगी का फलसफा, 2012) महेंद्र नारायण पंकज (अपमान, 1994 एवं युद्ध, 2013), ठाकुर शंकर कुमार (कलक्टर साहब का कुत्ता, 2005), कर्नल अजित दत्त (कोसी की दाध अंतरकथा, 2010 एवं

कथा-काशिका, 2012) इत्यादि। मायानंद मिश्र, सुभाषचंद्र यादव, देवशंकर नवीन, अरविंद ठाकुर, महाप्रकाश इत्यादि मैथिली में लिखनेवाले कोसी अंचल के कथाकार हैं, लेकिन हिंदी में भी इन रचनाकारों की कहानियाँ प्रकाशित एवं चर्चित हुई हैं।

**निष्कर्षतः** इस अंचल में वरिष्ठ-कनिष्ठ कहानीकारों की आज अच्छी-खासी संख्या है जो इस बात की गवाह है कि अंचल में रचनात्मक ऊर्जा और उर्वरता किसी भी दूसरे क्षेत्र से कम नहीं है। अगर इनकी दशा सही हो तो कोई कारण नहीं कि रेणु के बाद रचनात्मक उत्कृष्टता के लिहाज से, यह जनपद केंद्र में न हो। लेकिन इधर कहानियों पर अन्य दूसरी विधा की तरह बाज़ारवाद/उपभोक्तावाद का दबाव जिस परिमाण में बढ़ा है उससे कई दूसरी जरूरी बातें रचनाकार से छूट गई हैं और तदनुपात में विचार, अनुभव और संवेदनागत संशिलिष्टता का अभाव कहानियों में लक्षित हो रहा है। लेखन में लेखक की अपनी विषयगत रूचि बहुत दूर तक शायद साथ नहीं चल पाती। जो चीजें ज्यादा अपील करती हैं वहीं रचना का आधार बनती हैं। ऐसे में लेखक के पास जीवन की विविधता और उससे जुड़े अनुभव की व्यापकता ही उसके काम आ सकती है। जो कुछ मानविरोधी है उसके बारे में जरूर लिखा जाए मगर जो बातें मनुष्य के पक्ष में जाती हैं उसकी भी अनदेखी नहीं हो। प्रेम, करुणा, ईमानदारी, कर्तव्य परायणता, सहानुभूति जैसे महान मानवीय मूल्यों की कमी वर्तमान परिदृश्य में हो सकती हैं लेकिन इनका सर्वथा लोप हो गया है, ऐसा भी नहीं है। जीवन के प्रति सरोकार का क्या अर्थ है? केवल जीवन में व्याप्त घुटन को देखना? क्या सचमुच जीवन में कुछ सार्थक, संवादप्रक और काम की चीज नहीं रह गई? यदि इसका उत्तर ‘हाँ’ में दिया जाए तो, जाहिर है एकरेखीय, सीमित प्रभाववाली और एकांगी रचना का ही जन्म होगा। कोई लेखक आखिर ऐसे विकल्प क्यों चुने?

## समीक्षा

### जनता की बात पूरी शक्ति से कहती कविता\*\*

कमलानन्द झा\*

शिवनारायण का तीसरा काव्य-संग्रह ‘दिल्ली में गाँव’ बगैर किसी तामझाम और शोर-शराबे के ‘दमन की चक्की’ में पिसती जनता की बात अपार साहस से कहने की ताकत रखती है। सामाजिक सरोकार से कन्नी काटकर स्त्री-देह और उन्मत्त प्रेम के नवरीतिवादी गलियारे में स्वच्छन्द विचरण करना ‘दिल्ली में गाँव’ को कर्तई मंजूर नहीं। हाशिए पर गिरती-पड़ती जनता की समस्याओं से जवाब-तलब करती संग्रह की साठ कविताएँ घोर निराशा के बीच भी उम्मीद जगाती हैं। उम्मीद इस बात की कि ‘निराशा में भी सामर्थ्य है’। उम्मीद इस बात की कि ‘संकट के बावजूद’ चूका नहीं है अभी भी सब कुछ।

कवि शिवनारायण ने मुस्लिम स्त्रियों की शिक्षा के लिए संघर्षरत मलाला के जुनूनी ज़िद को विलक्षण काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। मलाला ने अपने सपने को दुनिया-भर की अशिक्षित मुस्लिम लड़कियों के सपनों से जोड़कर ‘घर से निकलकर काम पर और काम से लौटकर घर को’ आने वाले लोगों को अपनी मानसिकता पर सोचने-विचारने हेतु विवश किया है। कविता ‘मलाला की आवाज’ पूरे संग्रह में प्रतिध्यनित होती गूँजती रहती है—‘सबसे कड़ा हथियार है—

एक कलम और एक किताब

जो पूरी दुनिया को बदल सकती है

इसलिए हमें घरों में कैद न करो

हमें भी उतरने दो कलम और किताब की दुनिया में।’

\*डॉ. कमलानन्द झा, अध्यक्ष, भारतीय भाषा केन्द्र (हिन्दी), दक्षिण विहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया (विहार), मो. 08521912909

\*\*समीक्ष्य पुस्तक : दिल्ली में गाँव (काव्य-संग्रह), कवि : शिवनारायण, प्रकाशक : संजना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015, पृष्ठ : 112, मूल्य : 250 रु. सजिल्ड

शायद ही आज बिहार का कोई ऐसा गाँव हो, जहाँ से मजदूर पलायन कर दिल्ली, कोलकाता जैसे महानगरों में जैसे-तैसे जिन्दगी नहीं जी रहे हों। लेकिन इन श्रमिकों की विवशता को जानने-समझने की फुर्सत आज किसे है? ‘दिल्ली में गाँव’ कविता में कवि जिस सुन्दर की तलाश करते हैं, वह सुन्दर संज्ञा नहीं, विशेषण है जो देश-भर के गाँवों के उत्पीड़न से तंग आकर महानगर में किसी अवैध मुहल्ले को अपना गाँव बना बैठा है। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि लोकतन्त्र के छह दशक बाद भी किसी को अपना गाँव रहने के लिए अच्छा न लगे। अपने गाँव में ही वह सुरक्षित महसूस न करे, उसकी बीबी, बेटी और माँ की इज्जत हमेशा दाव पर लगी रहे। कविता के अन्त में सुन्दर की बेबी कलेजा को चाक-चाक कर जाती है—

‘भैया जी, अब मुलुक लौटकर क्या होगा?  
वह हमारे रहने लायक नहीं रह गया है  
वहाँ अब पहले से भी अधिक  
बड़े-बड़े राक्षस उग आए हैं  
झक-झक सफेद राक्षस।’

स्वतन्त्र भारत में जनआन्दोलन की धार को कुन्द करने की सत्ता की क्रूर कोशिश को कवि ने ‘लैलख मललखाँ’ कविता के माध्यम से जीवन्त रूप में चिन्हित किया है। कविता की विशेषता यह है कि आधी कविता एक चूड़ीहारिन लैलख और कपड़हारा मललखाँ के उदात्त प्रेम-कथा के रूप में चलती है। पाठक को पता ही नहीं चलता है कि यह प्रेम-कथा कब एक भारी जनआन्दोलन में रूपान्तरित हो जाती है। सामान्यतया प्रेमी-युगल लता-कुंज की नीरवता और एकान्त की तलाश करते हैं, किन्तु यहाँ प्रेम का विस्तार एक सामूहिक मुद्दा के रूप में होता है। लैलख और मललखाँ किसी भी प्रेमी-प्रेमिका की तरह एक-दूसरे की आँखों में अपने होने की सार्थकता तलाशते हैं—

‘मललखाँ की नीली पगड़ी में  
लैलख को अपने सपनों का  
इन्द्रधनुषी संसार नजर आता  
जबकि लैलख की बोली-बानी में  
मललखाँ को  
अपने जीने का अर्थ समझ में आता।’

लेकिन दोनों ने मिलकर आपनी आँखें स्थानीय जनता की आँखों से जोड़कर प्रेम को अद्भुत गरिमा प्रदान की है।

कई तरह की मानवीय संवेदनाओं का कोलाज है ‘दिल्ली में गाँव। इन संवेदनाओं में स्त्री के प्रति कवि का गहरा सम्मान भाव स्पष्ट है। ‘निर्भया’, ‘टीशन

वाली स्त्री’ और ‘विदा होती बेटी’ आदि कविताएँ स्त्री पीड़ा की टोह लेती हुई उन पीड़ाओं से मुक्ति की राह खोजने की कोशिश करती है। ‘टीशन वाली स्त्री’ फुटपाथ पर अपने बच्चों के साथ जिन्दगी बसर कर रही स्त्रियों के दुःख-दर्द का जायजा लेती हुई आगे बढ़ती है। ‘विदा होती बेटी’ में मैके से ससुराल की यात्रा कर रही स्त्री का, इस दुर्गम यात्रा में कितनी कुछ छूट जाता है और वह कितना कुछ प्राप्त कर पाती है, उसका मार्मिक लेखा-जोखा कवि ने प्रस्तुत किया है—

‘एक घर से  
दूसरे घर में जाना  
जैसे एक शरीर से  
दूसरे शरीर में आत्मा का प्रवेश  
पिता के घर से छूटी हुई बेटी  
खो जाती है  
पति की  
इन्द्रधनुषी दुनिया में  
घर से घर की  
यात्रा ही तो  
बेटियों की विदाई का  
शोकगीत है न।’

रचनाकार या व्यक्ति-विशेष पर व्यंग्य जहाँ कविता के वृहत्तर मकसद को सीमित-संकुचित करता है, वहीं प्रवृत्ति और लक्षण पर मारक व्यंग्य कविता की जमीन को चौरास करता है और कविता की बेधक क्षमता को कई गुना बढ़ा देता है। ‘दिल्ली की सड़कों पर’, ‘बड़ा राइटर-1’ तथा ‘बड़ा राइटर-2’ आदि ऐसी ही रचनाकार विशेष पर व्यंग्य करती पाँच कविताएँ हैं। सम्भव है कवि का व्यंग्य सार्थक हो, किन्तु इस तरह की कविताओं में कविता का उदात्त-भाव बाधित और चाहे-अनचाहे कवि-कुंठ रेखांकित हो जाती है।

संग्रह में विहार की राजनीति के छल-छद्म को कई कविताओं के द्वारा बेनकाब किया गया है। सुशासन के नाम पर चहुँ और पसरी सरकारी पाखंड, मिथ्याभिमान, आत्म का महिमांडन तथा विज्ञापन आदि को कवि ने अत्यन्त सलीके से उद्घाटित किया है। साथ ही साम्प्रदायिकता की समस्या को भी कवि ने प्रमुखता से संग्रह में स्थान दिया है। ‘जनतन्त्र की रक्षा के लिए’ तथा ‘मुक्तिगीत’ कविता साम्प्रदायिकता के नासूर तथा उसके धिनोने चेहरे से पाठकों को रू-ब-रू कराती है। आतंकवाद तथा साम्प्रदायिकता के आपसी गठबन्धन को स्पष्ट करती हुई ‘जनतन्त्र की रक्षा’ कविता में कवि ने साम्प्रदायिकता को आतंकवाद का उत्स माना है—

‘आतंकवाद से अधिक खतरनाक होता है  
 साम्प्रदायिक दुराग्रह  
 क्योंकि जाने-अनजाने उन्हीं के द्वारा  
 बनती चली जाती है ऐसी जमीन  
 जिस पर सहजता से आतंकवाद  
 दूध पानी पाता हुआ  
 निर्बाध पनपता चला जाता है।’

प्राकृतिक विपदा (प्रकृति के साथ) तथा मानवीय कूरता (बाला मुस्करा रही है) जैसी सामाजिक समस्याओं पर कवि की गम्भीर चिन्ता और चौकन्नी नजर उनके जनसरोकार के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कवि का जुड़ाव और उसकी पूरी प्रतिबद्धता अपनी जमीन और अपने लोगों (हाशिए के लोग) के साथ है, तभी तो वह पूरे आत्मविश्वास के साथ कह पाते हैं—

जड़ों से उखड़कर हम  
 होते गए जितने बढ़े  
 जीवन से दूर होते चले गए  
 झुके जहाँ-जहाँ  
 ऊँचे हुए वहाँ-वहाँ।’

## पुस्तक-चर्चा

### भारत के सांस्कृतिक साभ्यतिक अधिकार बोध और विश्वसभ्यता के विकल्प का विमर्शीय रेखांकन\*

डॉ. विश्वनाथ मिश्र\*\*

भारत और भारतीयता को समझने के स्वयं भारत में और विश्व स्तर पर जितने प्रयत्न हुए हैं उन सबको उनके मन्तव्यों और विश्लेषण के लिए चुने गये संकेतों (साइन) के आधार पर दो कोटियों में वर्णिकृत किया जा सकता है। इनमें से एक दृष्टि यह मानती है कि भारतभूमि पर ही महाभारत जैसे घोर विष्वाकारी युद्धक्षेत्र में भी श्रीमद्भगवतगीता जैसा तत्त्वोपदेश सम्भव है। दूसरी वह दृष्टि है जो महाभारत की ऐतिहासिकता, युद्धक्षेत्र में तत्त्वोपदेश के औविव्य और श्रीमद्भगवतगीता के उपदेशक की भौतिक सत्यापनीयता आदि के आधार पर भारत को समझने का प्रयास करती है। इन दोनों ही दृष्टियों की अपनी-अपनी विशिष्टतायें और अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। इनमें से किसी भी एक दृष्टि के प्रयोग से भारत का यदि एक पक्ष पकड़ में आता है तो दूसरा पक्ष छूट जाता है। युद्धभूमि में भी तत्त्व चिन्तन और भौतिक उपलब्धियों की पराकाष्ठा में भी आत्मावलोकन से विमुख न होना निश्चय ही इसका एक सबल कारण है।

अम्बिकादत्त शर्मा भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अपनी कृति ‘भारतीयता के सामाजिक अर्थ-सन्दर्भ’ में भारतीयता को समझने-समझाने की कोशिश कर रहे हैं। यह कोशिश पूर्ववर्ती ऐसे ही उपक्रमों से तीन अर्थों में भिन्न है। प्रथम, यह रचना भारतीय अतीत की अन्धभक्ति पूर्ण गौरव गान से सम्बन्धित नहीं है। द्वितीय, यह

\*समीक्षा: भारतीयता के सामाजिक अर्थ-सन्दर्भ, अम्बिकादत्त शर्मा, भारतीयज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015, मूल्य: 200/-

\*\*समीक्षक: असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, आर्य महिला पीजी कालेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) वाराणसी।

रचना किसी पश्चिमी विश्वदृष्टि में आकण्ठ ढूबकर परम्परा भंजन से संबंधित नहीं है। तृतीय, यह रचना शेष दुनियाँ से काटकर अलग-थलग भारत की चर्चा पर केन्द्रित नहीं है। अस्थिकादत शर्मा की ‘भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ’ नामक यह कृति अपने अवधारणात्मक गाम्भीर्य के कारण किंचित् सघन हो गई है।

प्रो. शर्मा के पुस्तक में जो नौ अध्याय हैं वे पृथक-पृथक् रूप से भी पूर्ण हैं। यदि उनमें कुछ कमी है भी तो वे एक दूसरे अध्यायों के साथ सहयोगित होने पर पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। ‘विश्वसभ्यता और सांस्कृतिक संकट’ से आरम्भ करके ‘पुरुषार्थ सन्तुलनवाद के मूलभूत सूत्र’ तक पहुँचना एक दृष्टि से हिमालय की ओटी से हिन्दू महासागर के गहराई में उतरने जैसा है। इस नियोजन के माध्यम से लेखक ने समकालीन संकटापन्न विश्वसभ्यता के लिए वैकल्पिक भारतीय सभ्यताबोध का प्रस्ताव भी किया है। वास्तव में विश्वसभ्यता और सांस्कृतिक संकट से अभिहित प्रथम अध्याय जिस विमर्श को प्रस्तुत करता है वह यह है कि आज विश्वसभ्यता तो निर्मित हो चुकी है किन्तु विश्वसंस्कृति का निर्माण नहीं हुआ है।

संस्कृतियाँ तो अभी भी वही हैं जो पाश्चात्य पुनर्जागरण से पूर्व थीं। जिन्हें प्रो. शर्मा ने अतीत में हमवजन बताया है वास्तव में वही संस्कृतियाँ तो आज निस्तेज हो रही हैं। ऐसा भी नहीं है कि इससे मात्र हिन्दू चीनी, इस्लामिक संस्कृतियाँ ही प्रभावित हैं बल्कि स्वयं ईसाई संस्कृति भी प्रभावित है जो स्वयं पूँजीवादी-उदारवादी समीकरण के साथ स्वयं इस अभियान की सहायिका भी है।

आज के युग में विभिन्न संस्कृतियों के निस्तेज होते जाने का कारण फिर से उनके द्वारा हमवजन बनने का प्रयास करना है। परन्तु, हमवजन बनने के लिए कोई भी संस्कृति आज अपनी आत्मप्रतिमा का अवलोकन नहीं कर रही है। अतः आज यह प्रयास प्रतिस्पर्धात्मक ज्यादा और सहयोगात्मक कम है। इस प्रयास में सबकी सब संस्कृतियाँ आतुर भाव से भौतिक प्रगति की उसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए अंधी दौड़ में संलग्न हैं जिसे उदारवादी-पूँजीवादी, ईसाई सभ्यता (संस्कृति नहीं) प्राप्त कर चुकी है। अतीत में जब विभिन्न संस्कृतियाँ हमवजन थीं तब उनमें अध्यात्मिकता एवं भौतिकता का एक साम्य था। आज वह अध्यात्मिकता गायब होती जा रही है और भौतिकता ही सांस्कृतिक चेतना की निर्देशिका बन चुकी है। फलतः अब एक बार फिर संस्कृति एवं सभ्यता की दूरी मिटती जा रही है। अतीत में जब यह दूरी अत्यन्त झीनी थी तब उसका कारण सांस्कृतिक चेतना द्वारा भौतिकता का नियमन था और आज जब यह दूरी मिटती जा रही है तब इसका कारण भौतिकता द्वारा सांस्कृतिक चेतना का नियमन है। आखिरकार ‘क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन’ में हॉटिंग्टन जब सभ्यता को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ‘सिविलाइजेशन इज ए कल्वर रिटलार्ज’ तब संस्कृति की वैचारिकता का सभ्यता के बाह्य, भौतिक एवं ढाँचागत समीकरण में तिरोहण तो हो ही जाता है। यही आज की संस्कृति एवं सभ्यता का सच है। इसमें

हमवजन बनने के लिए आत्मचेतन होकर ‘आत्मवृत् सर्वभूतेषु’ की कोई गुजांइश नहीं है बल्कि गुंजाइश है तो सिर्फ भौतिक प्रगति के लिए संसाधनों पर आधिपत्य स्थापित करने हेतु संस्कृति विहीन होती जा रही सभ्यताओं के संघर्ष की।

प्रो. शर्मा ने विज्ञान तकनीक, यूरोपकेन्द्रीयता, मनुष्य का निर्देशीकरण, मनुष्य का मानकीकरण, अमर्यादित उपभोग और समानुभूति के अभाव को वैश्विक सभ्यता के सांस्कृतिक संकट के रूप में पहचान की है। वास्तव में थोरो की यह चिन्ता कि ‘हमें हाथ पैर (भौतिकता) को फैलाने की जगह (वर्तमान सभ्यता) तो मिल जाती है पर हमारी आत्मा कोने में ही सिमटी रहती है, सार्व के दर्शन की प्रामाणिक चयन के अभाव में ‘परायेपन’ की पीड़ा और रूसों के दर्शन की यह चिन्ता कि वर्तमान सभ्यता में मनुष्य का नैतिक पतन हो गया है, वही चिन्ता है जो प्रस्तुत अध्याय में सारभूत रूप में प्रकट हुई है। वैश्विक सभ्यता के सांस्कृतिक संकट की चर्चा के क्रम में प्रो. अस्थिका दत्त शर्मा भारत के भी सांस्कृतिक संकट की चर्चा करते हैं और इसका समाधान भारत के उस संस्कृति में ढूँढते हैं जो तमाम उत्तर चढ़ाव के बावजूद भी विद्रूप नहीं हुई है। आखिरकार यूरोप में ऐसे प्रयत्न क्यों नहीं होते हैं? जबकि, चिन्ता तो वहाँ भी है। क्यों वे उदारवादी-पूँजीवादी समीकरण के भीतर ही पैबन्द लगाने जैसा प्रयत्न करते हैं? इसके दो उत्तर अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रथम, यूरोप यदि रेनेशां के बाद के इतिहास के आइने में अपना चेहरा देखना भी चाहे तो वह अपना निर्माण चेहरा (औपनिवेशिक शोषक) ही देख सकता है। अपना सौम्य चेहरा तो वह देख नहीं पायेगा। द्वितीय, इतिहास में और गहरे ग्रीक काल में पहुँचकर (जो सम्पूर्ण यूरोप के ज्ञान का आज भी अजस्र स्रोत है) यदि यूरोप अपने को पहचानने को कोशिश करे तो उन्हें सुकरात का ‘रीजन’ तो चाहिए पर ‘रिलीजन’ नहीं चाहिए। दूसरी ओर उन्हें आज जिसका ‘रिलीजन’ चाहिए उसका ‘रीजन’ नहीं चाहिए। अतः इतिहासबोध विहीन सभ्यता का निर्माण यूरोप की बाध्यता है। यथार्थतः यूरोपीय सभ्यता एक भयभीत समाज (अणुवादी समाज में अहंवादी व्यक्ति) के भय के मनोविज्ञान और तार्किकता (आज का सबसे बड़ा उद्योग शस्त्र उद्योग है) से निर्मित हुआ है। जहाँ विश्व की बीस प्रतिशत जनता को अपने उपभोग के लिए आरक्षित अस्ती प्रतिशत संसाधनों के छीन जाने का डर सबसे बड़ा डर है। पर यूरोप अपने इस डर को पृथ्वी पर विकास के असीमित संभावना के तर्क में इस तरह छिपा लिया है और सर्वतोग्राह्य बना दिया है कि दुनियाँ की सभी संस्कृतियाँ इसमें उन्मूलित होकर समाविष्ट हो जाना चाहती है।

यूरोप की संस्कृति विहिन वैश्विक सभ्यता के विजय अभियान में निश्चय ही यदि कोई चुनौती है तो वह भारत ही है। क्योंकि, भारत भूमि में ही वैकल्पिक सभ्यता प्रस्तुत करने की सम्पूर्ण क्षमता और संभावना है। प्रो. शर्मा का इस संदर्भ में यह कहना अत्यन्त समीचीन है कि भारत आधा ग्लोब है। इस तथ्य के दूसरे पक्ष को देखा जाय कि बाकी बचे आधे ग्लोब पर भी भारत का उल्लेखनीय प्रभाव है और हमारे अभियन

समूह पर यूरोप का सीधा प्रभाव है, तब यह कहा जा सकता है कि भारत आज पूरा ग्लोब है। अतः वैकल्पिक भारतीय सभ्यता का प्रस्ताव दुनियाँ से कटे एकान्त टापू के सभ्यता बोध का प्रस्ताव नहीं है अपितु यह दुनियाँ के साथ जीते हुए उसके दुःखों को बांटने हेतु ऋतम्भराप्रज्ञा के अनुभव पर आधारित प्रस्ताव है। सभ्यता के समस्त उपादान यथा विश्वदृष्टि, राजविद्या, अर्थशास्त्र, धर्म-अध्यात्म एवं नैतिकता, भाषायी सामर्थ्य, वैज्ञानिक एवं तकनीकी का प्रतिमान और दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन की सुदृढ़ परम्परा आदि भारत में विद्यमान हैं। सबसे बढ़कर भारतीय सभ्यता की निरन्तरता और प्रतिरोध तथा आत्मसीमन की प्रबल शक्ति एवं समष्टिगत जीवन-प्रणाली में विविधता की रक्षा की अद्वितीय शक्ति भारत को दुनियाँ के समक्ष वैकल्पिक सभ्यता के प्रस्ताव का एक लोकतांत्रिक अधिकार प्रदान करता है। जरूरत है तो बस यूरोपीय सभ्यता के आसन्न संकट से मुक्त होकर भारतीय सभ्यताबोधको भारत की आत्मप्रतिमा में प्रतिष्ठित करने की।

इस आत्मप्रतिमा की स्थापना हेतु वांछित दृष्टि एवं प्रयत्न क्या हो सकते हैं? और मार्क्सवादी विश्वदृष्टि यूरोपीय सभ्यता के समक्ष वैकल्पिक सभ्यता का प्रस्ताव क्यों नहीं रख सकी? इन दो प्रश्नों पर विचार प्रो. शर्मा ने प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय ‘हिन्द स्वराज : सभ्यताबोध और उसका प्रतिपक्ष’ में किया है। इस अध्याय में भारतीय सभ्यताबोध के प्रतिपक्ष के रूप में मात्र पूँजीवादी-उदारवादी सभ्यता की ही चर्चा नहीं हुई है। अपितु कम्युनिस्ट मैन्युफेस्टो के बहाने मार्क्सवादी सभ्यताबोध की भी चर्चा हुई है। साथ ही भारतीय सभ्यताबोध की आत्मप्रतिष्ठा हेतु महात्मा गांधी के हिन्द स्वराज की अत्यन्त मूलगामी दृष्टि से विवेचना की गई है। मूलतः सत्ता संघर्ष एवं वर्चस्य की स्थापना हेतु सम्पूर्ण शीत युद्ध काल में पूँजीवादी और मार्क्सवादी सभ्यता के बीच जितना बाह्य विरोध दिखता है उतना वह है नहीं। दोनों की विश्वदृष्टि एक ही है। दोनों ही वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति एवं औद्योगिक उत्पादनप्रणाली में मनुष्य की मुक्ति के सूत्र खोजते हैं। परन्तु विज्ञान एवं तकनीक और इनसे जुड़े विशेषज्ञ भी मनुष्य की नियति को अपनी मुद्रिती में कैद कर लेते हैं इस तथ्य से उदारवाद और मार्क्सवाद दोनों ही आँख बन्द किए हुए हैं। सच पूछा जाय तो तकनीकी सभ्यता का जितना बड़ा पोषक उदारवादी यूरोप है उससे बड़ा तकनीकी सभ्यता का पोषक समाजवादी यूरोप है। ऐसा कहने का स्पष्ट कारण यह है कि उदारवादी यूरोप में धर्मनियोग रूप में ही सही लेकिन धर्म किसी न किसी कोने-कतरे में पड़ा तो रहा है, परन्तु समाजवादी यूरोप में तो वह अकीम बनकर बहिष्कृत ही हो गया है। फलतः भौतिक लिप्सा पर समाजवादी यूरोप में लगाम का काम तो मात्र भौतिक शक्ति (राज्य) ही कर सकता था, और इतिहासकी न्याय को देखिए कि जैसे ही इस लगाम की शक्ति चुकी कि भौतिक लिप्सा के उदाम वेगों ने समाजवादी यूरोप को ही तोड़ डाला।

जिस पश्चिम का आत्मसंयम आज बिगड़ा हुआ है वहाँ वास्तव में न तो सुराज सम्भव है न ही स्वराज। आज जो सुराज एवं स्वराज पश्चिमी सभ्यता में दिखता है वह वास्तव में समृद्धि का फल है और उसे लूट के बल पर अर्जित की गई है। लुट की यह शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती जाएगी और लूटे गए लोगों का प्रतिरोध जितना बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे पश्चिम का सुराज एवं स्वराज छिन्न-भिन्न होता जाएगा। इस रोग का निदान जिसे प्रो. शर्मा महात्मा गांधी के शब्दों में व्यक्त करते हैं वह है- द्वेष भाव सिखानेवाली सभ्यता के स्थान पर प्रेमभाव सिखाने वाली सभ्यता का निर्माण। यह प्रेमभाव सिखाने वाली सभ्यता भारतीय संस्कृति के मूल्यों में है, यह प्रेमभाव भोग से नहीं अपितु योग से निःसृत होता है। इस सभ्यता के निर्मायक सूत्रों को उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता के गाँधी दृष्टि आधुनिक रूपान्तरण में खोजा है। इसे भारतीय सभ्यता का गाँधीवादी रूपान्तरण कहना ही अधिक सम्यक् होगा, क्योंकि आधुनिक कहते ही पश्चिम की पकड़ में आ जाना है। इसी कारण हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता की मीमांसा करते हुए गाँधी जब भारतीय विकल्प को प्रस्तुत करते हैं तब कहीं भी प्रायः आधुनिक अवधारणाओं की शब्दावली एवं भाषा में अपने मन्त्रव्य को नहीं प्रकट करते हैं। उनकी शब्दावली एवं अवधारणा भी भारतीय ही है।

प्रो. शर्मा ने हिन्दस्वराज के प्रतिप्रेक्ष्य में भारतीय सभ्यता की आत्म प्रतिमा प्रस्तुत करते हुए गाँधी के भाषा-विमर्श को अछूता छोड़ दिया है। भारतीय सभ्यता के भाषा-विमर्श के लिए उन्होंने ‘वैचारिक स्वराज और भाषिक राजपथ’ नाम से लिखे गये तृतीय अध्याय का प्रणयन किया है। यह अध्याय एक तरह से के.सी. भट्टाचार्य के ‘स्वराज इन आइडियाज’ का उत्तर आख्यान है, जिसमें वैचारिक स्वराज के लिए ‘भाषिक स्वराज’ की पूर्व गृहीति को आवश्यक बताया गया है। इस अध्याय में पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु स्वतन्त्र भारत में अपनाये गये विचारों एवं उसकी प्राप्ति हेतु बनाई गई रणनीतियों की हकीकत को यदि किसी एक ही सन्दर्भ से अर्थान्वित किया जा सकता है तो वह है राजभाषा के प्रति हमारी सरकारों का नजरिया। राष्ट्र भाषा तो घोषित तौर पर आज भी हमारी कोई है नहीं और राजभाषा के रूप में ‘हिन्दी’ सरकारी फाइलों और कुछ प्रोजेक्टों में कैद है। भाषा यदि संस्कृति की वाहक है और लोक मानस की निमत्ती तथा निर्मिति है, भाषा यदि राष्ट्र की चेतना का व्यष्टि के अन्तर्स में उत्तरने का माध्यम है तब नेहरू मन्त्रिमंडल से लेकर आज तक की सरकारों ने जिस तरह हिन्दी भाषा को आई.सी.यू. में भर्ती करके आकसीजन की सप्लाई रोक रखी है, उसका औचित्य एवं निहितार्थ क्या है? आज भी वह सरकारों की ओर से उसी तरह उपेक्षित क्यों है? इन प्रश्नों के उत्तर की खोज करते हुए लेखक ने हमारी स्मृति पटल से ओझल हो रहे अनेक रोचक एवं तन्द्राभंजक दृष्टान्तों एवं उद्धरणों का उल्लेख किया है। स्वतन्त्र भारत में गाँधी के उत्तराधिकारी नेहरू ने जिस स्वराज का सूत्रपात गाँधी के भाषायी विमर्श को धक्कियाकर आरम्भ किया उसमें

सम्पर्क भाषा (मात्र दस वर्ष हेतु) होते हुए भी अंग्रेजी को राज्याश्रय से बढ़कर सम्मान प्राप्त हुआ। आज भारत में भारत को निर्मूल करने की आत्म प्रवर्चित विद्वत्समूह द्वारा जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह पश्चिम से आयातित राजनीतिक-आर्थिकी एवं तकनीकी से कहीं ज्यादा अंग्रेजियत के भूत का कमाल है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिन्दी का जो कुछ भी विकास हुआ है उसे प्रो. शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि यह स्वैच्छिक प्रयत्नों से हुआ है। इनमें हिन्दी सिनेमा और लोकप्रिय राजनीति करने वाले हिन्दी भाषी क्षत्रियों का भी योगदान है। भले ही उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य हिन्दी भाषा का विकास न होकर हिन्दी भाषा के प्रति जननिष्ठा को बोट में बदलने की रही हो।

इस अध्याय में लेखक ने भारत रत्न भवानदास के तर्कों के साथ अपनी सहमति दिखाते हुए विभाजित भारत में हिन्दुस्तानी भाषा के प्रयोग के प्रति गाँधी दृष्टि के प्रति गहरी आपत्ति प्रकट की है। भारत के मर्म को उसके अतीत के बजाय उसके वर्तमान में समझने और उसे स्वतं योत्तर भारत के विमर्श हेतु आधार भूमि के रूप में स्वीकार करने के कौन-कौन से मूल भूत अर्थ-सन्दर्भ हो सकते हैं? इस प्रश्न पर लेखक ने ‘स्वातं योत्तर भारत के मूल-भूत अर्थ-सन्दर्भ’ नामक चतुर्थ अध्याय में बड़े ही मार्मिक एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया है। इस अध्याय में भारतीयता की पहचान लेखक ने सांस्कृतिक राष्ट्र के रूप में की है जो भारत के राजनीतिक राष्ट्र की अस्मिता से अधिक सबल एवं अखण्ड है। लेखक की यह दृष्टि बाल गंगाधर तिलक एवं मदन मोहन मालवीय के राष्ट्र चिन्तन से सायुज्य रखती है। इस दृष्टि का भारतीयता के स्वत्व से यदि संबंध न होता और सही मायने में अंग्रेजी शासन की एकसूत्रता से ही भारतीय राष्ट्र निर्मित हुआ तो भारत कब का छिन्न-भिन्न हो चुका होता। इसकी भविष्यवाणी तो साठ और सत्तर के दशक में सैलग हैरिशन जैसे लेखक ‘इण्डिया : द मोस्ट डेन्जरस डिकेंड्स’ जैसी रचनाओं में कर भी रहे थे। वस्तुतः पाल ब्राश एवं माइरन वीनर जैसे लेखक भारत के बड़ी भाषायी समूहों को सांस्कृतिक एवं उपराष्ट्रीय समूहों के रूप में जिस तरह पहचानने की कोशिश करते हैं और उनके अन्धभक्त जिस तरह उसी दृष्टि से भारत को समझते हैं वह पाश्चात्य अनुभव से भारतीय राष्ट्र को पहचानने का दिवास्वप्न मात्र है। पश्चिम में राष्ट्र का अभ्युदय एक राजनीतिक घटना है, और राष्ट्रीय संस्कृति पूँजीवादी-उदारवादी, औद्योगिक उपक्रम की परजीवी संतान है। इसी कारण वे राजनीतिक संकट को बड़ी जल्दी राष्ट्र के विघटन का पर्याय मान बैठते हैं।

इसके विपरीत वह भारत जो 15 अगस्त 1947 को उद्भूत हुआ उससे भारत की संस्कृति नहीं निर्मित हुई बल्कि एक अखण्ड संस्कृति राजनीतिक दासता से मुक्त हुई। इस मुक्ति हेतु उसने एक बड़ा सांस्कृतिक बलिदान किया। इस बलिदान के बाद भी उसने अपनी सन्निहित एकता के इतिहास बोध का ही परिचय दिया और सांस्कृतिक राष्ट्र ने ही राजनीतिक राष्ट्र के उपर अपनी आत्म प्रतिमा को स्थापित

किया। लेखक की यह स्थापना अत्यन्त मूलगामी है कि भारत यदि विभाजन के बाद राजनीतिक राष्ट्र के रूप में अपना परिचय देता तो भारत को ‘हिन्दू राष्ट्र’ बनने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। किन्तु, भारत का हिन्दू राष्ट्र नहीं बनना एक सांस्कृतिक राष्ट्र का ‘महाविमर्श’ था और ऐसे विमर्श हजारों वर्षों की निस्पृहता से ही उद्भूत होते हैं। यह एक घटना ही यह साबित करने के लिए पर्याप्त थी कि वास्तव में सांस्कृतिक रूप से भारत गुलाम हुआ ही नहीं था। लेखक ने इसे ही भारतीयता के उस मूलभूत अर्थ-सन्दर्भ के रूप में पहचान की है जिसकी स्वातंत्र्योत्तर भारत में साधना की जानी चाहिए थी। किन्तु भारत के परा-ऐतिहासिक अर्थ-सन्दर्भ (स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद) की विडम्बना यह रही कि भारत के तथाकथित नेहरूवादी राष्ट्र निर्माताओं ने उस भारत को निर्मित करने का उपक्रम चलाया जिस भारत को मैकाले और हीगल जैसे पश्चिमी पैरोकारों ने गढ़ा था—एक संस्कृति विहीन, आत्म प्रतिमा एवं इतिहासबोध से रहित भारत। एक ऐसा भारत जो अपने कमाने और खाने के लिए भी यूरोपीय तौर-तरीकों की नकल कर सके। यह भूरे साहिबों द्वारा खुद से ओढ़ी गयी दासता थी। सच कहें तो यूरोप की शिक्षा, तकनीक, उद्योग, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रणाली, विकास की रणनीति एवं समूहगत विभेदों के निस्तारण की रणनीति में हमारे भूरे साहिबों ने मात्र नौकरशाही नजरिये का ही परिचय दिया। समस्याओं को गिनाकर अपनी मजबूरी और विकल्पहीनता का हवाला देना ‘स्टेट्समैनशिप’ नहीं है। जब किसी नव स्वतंत्र राष्ट्र के बागड़े को संभालने वाले नेताओं में ‘स्टेट्समैनशिप’ का अभाव होता है तब वह राष्ट्र थोड़े को पाने के लिए सब कुछ खो बैठता है। यदि आज भारत के साथ यह पूरी तरह नहीं घटित हो पाया है तो पुनः इसका कारण सांस्कृतिक भारत की जीजीविषा ही है न किराजनीतिक राष्ट्र और उसके नेताओं की दृढ़ इच्छा शक्ति या उनके अहर्निश राष्ट्रतप का प्रतिफलन।

क्या है सांस्कृतिक भारत और कैसा है उसका स्वरूप? इस प्रश्न पर पुस्तक के पाँचवे अध्याय ‘भारतीय संस्कृति की सामासिकता पर पुनर्विचार’ में लेखक ने एक विशिष्ट दृष्टिकोण से विचार किया है। ऊपर से देखने पर यह दृष्टि एडवर्ड सर्फ द्वारा ‘ओरिएण्टलिज्म’ में प्रयोग की गई ‘स्ट्रेटिजिकल लोकेशन मैथडोलॉजी’ की तरह प्रतीत होती है। इस पद्धति का प्रयोग अत्यन्त सुवीर्ध इतिहास एवं विस्तृतफलक वाले विषयों को समेटने के लिए रणनीतिक तरीके से विश्लेषण की ईकाइयों को चुनने का तरीका। इस तरह से चुने गये संकेतक आंगिक होते हुए भी सर्वांग का परिचय देते हैं। इस दृष्टि से धर्म और मोक्ष को लेखक ने भारतीय संस्कृति का मौलिक तत्त्व बताया है। इसमें ‘धर्म’ वैदिक संस्कृति और ‘मोक्ष’ आर्योत्तर संस्कृति से उद्भूत है, पर दोनों एकीकृत होकर भारतीय संस्कृति के पारावार की रचना करते हैं। वास्तव में चतुर्वर्ग से त्रिवर्ग और फिर त्रिवर्ग से द्विवर्ग के द्वारा भारतीय संस्कृति का सन्धान करना मात्र एक ऐसी रणनीतिक योजना नहीं है जिसके आधार पर कोई यह कह सके कि

विकृतियाँ हमारी नहीं हैं, संस्कृति ही हमारी है। बल्कि यह ऐसा आधार है जो पर्यवेक्षक को भारतीय संस्कृति के अन्तर्स में गहरे तक उतारती है। प्रो. शर्मा ने भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों एवं लोक मानस में धर्म एवं मोक्ष के विमर्श को जिस तरह विश्लेषित किया है वह ‘स्ट्रैटेजिकल लोकेशन मैथडोलॉजी’ से बहुत आगे निकल जाता है और सर्वसमावेशी दृष्टिप्रक हो जाता है।

धर्म और मोक्ष वासना परक नहीं होते जबकि अर्थ और काम अपने असंस्कारित (धर्म और मोक्ष रहित) स्वरूप में जैव-वासना परक ही होते हैं। वासना का स्वरूप व्यष्टिप्रक होता है, अतः पुरुषार्थ होते हुए भी अर्थ और काम में समष्टि-परकता से विरोध सम्भव है और व्यवहार में सारे सामाजिक दुन्द एवं विद्वेष इसी से जन्म लेते हैं। यही सामाजिक और सांस्कृतक विकृतियों के आधार बनते हैं। अर्थ और काम की विकृतियों को भारत की सांस्कृतिक दृष्टि में कदाचित् विश्व के किसी भी अन्य संस्कृति से अधिक गहरे स्तर पर समझा गया है। इसी कारण अर्थ और काम को भी संस्कारित किया गया है। अर्थ और काम भारत में उपेक्षित नहीं हैं (मनुष्य को संवदेनाओं का दास मानने वाले स्वच्छन्दतावादी ठीक इसका उल्टा समझते हैं), अपितु जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के सबसे महत्वपूर्ण अवलम्ब हैं। पर इसी अवलम्ब पर टिके रहना (जैसा पाश्चात्य संस्कृति प्रकट रूप में आज कर रही है) पशु समान हो जाना यदि नहीं है तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर क्या है? वास्तव में वह अन्तर है अर्थ एवं काम को जैविक वासना के बन्धन से मुक्त होने का माध्यम बनाना। अर्थ और काम दोनों ही ‘चरमसुख’ की प्राप्ति के माध्यम हैं (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) पर दोनों का स्वरूप भिन्न है। काम ‘प्रीति वर्धक’ होने पर ‘चरमसुख’ में परिणत होता है और अर्थ ‘कीर्ति वर्धक’ होने पर चरम सुख में परिणत होता है। प्रीतिवर्धन की उच्चतम अवस्था अपने अस्तित्व के पूर्ण समर्पण की आनन्दानुभूति में है और इसी आनन्दानुभूति की प्राप्ति भारतीय संस्कृति में काम पुरुषार्थ का लक्ष्य है। यहाँ पहुँचकर पुरुषार्थी (स्त्री-पुरुष) जिस तृप्ति एवं समर्पण के आनन्द की अनुभूति करते हैं वह काम को भी यज्ञ की अवस्था तक पहुँचा देता है और इसी रूप में काम पुरुषार्थ बन जाता है।

इसी तरह अर्थ भी कीर्तिवर्धक होने पर पुरुषार्थ बन जाता है (कीर्ति वृद्धिं ददातु मे -ऋ. श्रीसूक्त)। जाहिर सी बात है कि हम यदि ढेर सारे भौतिक संसाधनों को इकट्ठा करके उनका व्यक्तिगत स्तर पर खूब उपभोग करें तो हमारी कोई कीर्ति नहीं बनेगी। बल्कि हमारी कीर्ति तब बढ़ेगी जब हमने भौतिक संसाधनों को इकट्ठा करने में अपनी क्षमता का समाज द्वारा मान्य पद्धति से परिचय दिया हो और उन संसाधनों को व्यक्तिगत तृप्ति के साथ-साथ सामाजिक उत्थान हेतु उपयोग किया हो। अपनी क्षमता से अर्जित संसाधनों का सामाजिक हित में उपयोग व्यक्ति को उद्धारक भाव से न भर दे और वह अहंवादी न हो जाये, साथ ही वह मनमाने तरीके से चैरीटी द्वारा

अपनी समृद्धि का प्रदर्शन न करे, इसके लिए संसाधनों के सामाजिक उपयोग हेतु योजना भी बनायी गयी है। वह योजना ऋणों से मुक्ति हेतु यज्ञों का सम्पादन है। विचार पूर्वक देखे तो पश्चिम में मूल्य (कीमत) के श्रम-सिद्धान्त के इद-गीर्द जो विमर्श उत्पन्न हुए हैं वे व्यक्तिगत क्षमता से अर्जित संसाधनों पर अर्जनकर्ता का प्राणिक अधिकार (लॉक जीवन की स्वतन्त्रता में ही सम्पत्ति की स्वतन्त्रता को समाविष्ट करता है) मानते हैं। किन्तु, हकीकत तो यह है कि हम व्यक्तिगत क्षमता से किसी सृष्टि (प्रकृति) का निर्माण नहीं करते हैं, तब आखिरकार जिन्हें हम व्यक्तिगत क्षमता से अर्जित मानते हैं वे आनुषंगिक रूप से ही हमारे अपने होते हैं। दूसरी ओर जिसे हम अपनी क्षमता कहते हैं वे जीवनी शक्ति के रूप में हमें प्रकृति जगत् के तत्त्वों से ही प्राप्त होते हैं और इस क्षमता का प्रयोगधर्मी उपयोग का कौशल हमें समाज और ज्ञान की परम्परा से प्राप्त होता है। फिर हमारा था क्या और रहा क्या? हम तो सम्पूर्ण प्रकृति और समाज के ऋणी हो गये। यदि इससे उऋण होना हमारा कर्तव्य है तो फिर अपनी समृद्धि के सामाजिक सदुपयोग से उद्धारकता का भाव कैसे आ सकता है। इसी दृष्टि से प्रो. शर्मा ने अर्थ पुरुषार्थ को यज्ञ और योग से जोड़ा है। इस तरह भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम व्यष्टिमूलक होते हुए भी समष्टिमूलकता में अन्वित प्राप्त कर लेते हैं। महात्मा गांधी ने ‘ब्रह्मचर्य’ एवं द्रस्टीशिप के माध्यम से इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की योजना बनाई है।

इस सम्पूर्ण प्रकरण को समझे बिना भूले-भटके अकादमिक नेता भारतीय संस्कृति द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता के ‘महाआयामी’ स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं और धर्म तथा मोक्ष को ही बन्धनकारी (स्वतंत्रता के मार्ग का बाधक) मान बैठते हैं। अर्थ और काम को धर्म एवं मोक्ष के द्वारा दमित नहीं किया जाता है बल्कि इससे अर्थ एवं काम के सेवन की दक्षता ही बढ़ायी जाती है। वह भी इस तरह से कि एक की बढ़ती हुई दक्षता कहीं से भी दूसरे की ऐसी ही दक्षता प्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं बनता है। यहाँ संस्थायें और प्रक्रिया महत्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि विचार और परिणाम महत्वपूर्ण हैं। विचार धर्म और परिणाम मोक्ष है। इसे ही लेखक ने भारतीय संस्कृति की एकात्मकता के रूप में पहचाना है।

उपयुक्त परिप्रेक्ष्य (पाँचवें अध्याय) में विचार करते हुए भारतीय नैतिक दृष्टि पर दृष्टिप्रकार करें तो नैतिकता का व्यक्ति के जीवन में उत्तरना महत्वपूर्ण हो जाता है न कि नैतिक तार्किकता या स्वतन्त्र रूप से नीति दर्शन का निर्माण। इस प्रसंग में भी भारतीय एवं यूरोपीय दृष्टि में आसमान-जमीन का अन्तर है। ‘मूलगामी भारतीय नैतिक दृष्टि’ नामक छठे अध्याय में लेखक ने इस प्रश्न पर आचार संहिता मूलक नीति विमर्श (भारतीय) और दार्शनिकता मूलक नीति दर्शन (पाश्चात्य) के सन्दर्भ में सारांभित विन्तन किया है। वास्तव में पश्चिम का अ-ऐतिहासिक अ-सामाजिक एवं अहंवादी व्यक्ति (पाश्चात्य ज्ञानोदय में वर्णित मनुष्य का स्वरूप) आचार संहिता मूलक

नीति चिन्तन जो धर्मोपदेश की तरह होते हैं क्यों स्वीकार करेगा? वह तो इसे तब स्वीकार करेगा जब इसके पीछे सम्प्रभू शक्ति से दण्डित होने का भय हो। इसी कारण पश्चिम में दार्शनिकता मूलक नीति दर्शन की ही गुजाइश बनती है जिसे ताकत के बल पर लागू किया जा सकता है। भारत में आचार मूलक होने के कारण ही सम्पूर्ण नीति विमर्श के बाद उपदेशक (कृष्ण द्वारा अर्जुन को उपदेश का उदाहरण) यह कह सकता है कि अब जैसा अच्छा लगे वैसा करो और इसके लिए तुम्हें कहीं और नहीं बल्कि अपने ही शरण में (आत्म प्रकाशित धर्म बोध) जाने की जरूरत है। लेखक ने आचार संहिता मूलक नीति दर्शन के जिस बृहद् परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत किया है और वास्तव में जो भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित नैतिक दृष्टि है वह ‘न्याय’ को एक अत्यन्त विराट स्वरूप प्रदान करता है। पश्चिम के विधिक न्याय की अवधारणा में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अतः जब भी कर्तव्याकर्तव्य के गहन मीमांसा की जरूरत पश्चिम में होती है वे दौड़े-दौड़े प्राकृतिक न्याय की शरण में चले जाते हैं। पश्चिम की दार्शनिकता मूलक नैतिकता के उत्स को लेखक ने व्यक्ति या ग्रन्थ सापेक्ष बताया है और इसके पीछे अनेक तर्क दिए हैं। यदि इन तर्कों को हम नकारना भी चाहें (उन आधारों को भी लेखक ने प्रस्तुत किया है) तो भी पश्चिम के विधिक एवं न्यायिक एकरूपता का तर्क हमें ऐसा नहीं करने देगा। इस स्थिति में पश्चिम की विधि और न्याय व्यवस्था का उद्गम स्रोत अभिजननवादी है। इसके विपरीत भारतीय आचार संहिता मूलक नैतिक दृष्टि में कदाचित् शास्त्र से ज्यादा लोक ही प्रमाण हैं और लोक से भी ज्यादा कर्तव्याकर्तव्य के द्वन्द्व में उलझे व्यक्ति का शुद्ध अन्तःकरण ही प्रमाण है। कदाचित् ‘स्थिति परक न्याय’ की बात करके अब पश्चिम भी भारतीय नैतिक दृष्टि को समझने की कोशिश कर रहा है।

जब भारत की नैतिक दृष्टि व्यक्ति या ग्रन्थ सापेक्ष नहीं है तब भारत में साम्प्रदायिक समस्या क्यों है? और भारत में तथा विश्व स्तर पर इस समस्या के समाधान के लिए भारतीय संस्कृति के क्या उत्तर हो सकते हैं? इन प्रश्नों पर और शायद आज के युग के सर्वाधिक विवादास्पद कहे जा सकने वाले प्रश्न पर ‘धार्मिक सह-अस्तित्व की भारतीय दृष्टि’ नामक सातवें अध्याय में प्रो. शर्मा ने बड़े ही बेबाक तरीके से विश्लेषण किया है। यहाँ इसके बजाय शायद यह कहना ठीक होगा कि लेखक ने सर्वधर्म सद्भाव संवादों में छुपा लिये जाने वाले प्रश्नों को सीधे कह दिया है। यदि कभी ऐसे प्रश्न उठते भी हैं तो इन प्रश्नों के उत्तरों में जो हिला-हवाली दिखती है और एक दूसरे को पुचकार कर मौन साध लिया जाता है उसे लेखक ने बौद्धिक निर्भीकतापूर्वक व्यक्त कर दिया है। लेखक ने धार्मिक सह-अस्तित्व की भारतीय दृष्टि की चर्चा के पूर्व इस समस्या को ‘धर्मों के धर्म संकट’ के रूप में पहचान की है। यहाँ प्रो. शर्मा ने धार्मिक सह-अस्तित्व के लिए दुनियाँ भर में सभी धर्मों की एकता के

विमर्श की विफलता को रेखांकित किया है। इन प्रयासों में सभी धर्मों की प्रातिस्थिक विशिष्टता को भूलाकर धार्मिक सह-अस्तित्व के लिए उनके बीच तात्त्विक एकता को ढूँढने का प्रयास वास्तव में एक नये धर्म के सृजन जैसा ही है। सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि धार्मिक सह-अस्तित्व का मसला अन्तर धार्मिक सौहार्द का मामला है जबकि प्रस्तुत लेखक की स्थापना है कि यह समस्या कुछ धर्मों के आस्था प्रणाली और उनके औचित्य विधान के कठोर एकीकरण से उपजी कट्टरता के समाधान तलाशने का प्रश्न है। ऐसी कट्टरता उन धर्मों में अधिक होती है जिनमें आस्था प्रणाली और औचित्य विधान के पार्थक्य की संभावना कम होती है। फलतः वे ‘पर’ को ‘अपवित्र’ मानते हैं जिनका या तो नाश किया जाना चाहिए या पवित्र बनाने हेतु धर्मान्तरण कराना चाहिए। इस प्रश्न पर एक दूसरे सन्दर्भ में विचार करें तो आस्था प्रणाली और औचित्य विधान में पार्थक्य की सम्भावना के तलाश में ही पश्चिम में ज्ञानोदय काल में धर्मनिरपेक्षता का विकास हुआ जहाँ आस्था प्रणाली को व्यक्ति के पारलौकिक निष्ठा का प्रश्न मान कर चर्च के अधीन कर दिया गया और औचित्य विधान को व्यक्ति की लौकिक निष्ठा का प्रश्न मानकर इसे राज्य के नियन्त्रण में दे दिया गया। पर था तो यह कृत्रिम विभाजन ही। फलतः इसाईयत की निष्ठा (औचित्य एवं आस्था के प्रति) तो इससे बदली नहीं और जैसे-जैसे उनकी लौकिक शक्ति बढ़ती गई पूरी दुनियाँ को इसाई बनाने का उनका मुहिम भी बढ़ता ही गया। कमोवेश यही बात इस्लाम के साथ भी लागू होती है। इसके विपरीत सनातन संस्कृति में अनुज्ञात इतिहास से ही आस्था प्रणाली एवं औचित्य विधान का पार्थक्य मिलता है। यह पार्थक्य ही उस सहिष्णुता, उदारता, एवं परस्पर सम्मान के भाव की भूमि तैयार करता है जिससे धार्मिक सह-अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

इस तरह देखा जाय तो इस पुस्तक के सातवें अध्याय में पहुँचकर भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ की मीमांसा पूर्ण हो जाती है। बाकी के दो अध्याय ‘आधुनिकता, अन्तरधर्म संघर्ष और बौद्धधर्म’ तथा ‘पुरुषार्थ सन्तुलनवाद के मूलभूत सूत्र’ प्रकीर्ण प्रकृति के अध्याय हैं। जिनमें लेखक ने बौद्धेतर प्रसारवादी धर्मों (आठवाँ अध्याय) को आइना दिखाया है और अहिंसक हुए बिना धार्मिक प्रसार के बौद्धमार्ग के विकल्प को उद्घाटित किया है। साथ ही इसी अध्याय में आधुनिकता के पर्याय सार्वभौम मानव बुद्ध के स्थान पर महायानी बौद्ध दर्शन के प्रज्ञा और करुणा को आधुनिकता के पार्श्व प्रभावों से मुक्ति का वाहक बताया है। इसी तरह अन्तिम अध्याय में लेखक ने भारतीय संस्कृति के पुरुषार्थ सन्तुलन की विश्वदृष्टि को विश्वस्थिता के निर्माण हेतु प्रस्तावित किया है जिसमें जीवन के श्रेय और प्रेय, ज्ञान एवं कर्म, आस्था एवं भक्ति, साधन एवं साध्य तथा दैहिक एवं आत्मिक का सन्तुलन है। साथ ही इसमें आस्था प्रणाली एवं औचित्य विधान का सह-अस्तित्व भी है। यह

सन्तुलन एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक न होकर कास्मोसेन्ट्रिक है। अतः सबके लिए सर्वतो भावेन ग्राह्य भी हो सकती है, बशर्ते वास्तव में एक संस्कृति युक्त विश्वसभ्यता के निर्माण के उद्देश्य को लेकर साथ चला जाय।

इस सम्पूर्ण पुस्तक के सन्दर्भ में यदि एक ही ठोस बात कहनी हो तो यह कहा जा सकता है कि यह एक ‘दाशनिक स्टेट्समैन’ की कृति है जो अपने राष्ट्र को जड़ से चोटी तक और अतीत से भविष्य तक देख रहा है और उस दृष्टि को ‘पिक्टोरियल लैंगेज’ में व्यवस्थित कर रहा है। इसी तरह इस रचना की एक ही कमी को ठोस रूप में उजागर करना हो तो वह यह है कि इतनी गहरी अन्तदृष्टि रखने वाले लेखक को जो भारत के अतीत, वर्तमान और उसके राजनीतिक मर्म के साथ-साथ दाशनिक मर्म को समझ रहा हो उसे एक अध्याय भारत को समझने के पछतिशास्त्र पर भी लिखना चाहिए था। इस पुस्तक की वह विशिष्टिता जिसके कारण प्रत्येक जागरूक पाठक को इसे पढ़ना चाहिए वह यह है कि इसमें मात्र भारत की आत्म प्रतिमा की ही विमर्श का विषय नहीं बनाया गया है बल्कि अवान्तर रूप से सम्पूर्ण मानवजाति के अस्तित्वात्मक समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय प्रस्ताव एवं भारतीय संस्कृति की क्षमता पर भी विचार किया गया है। आज जहाँ ‘एक आयामी मानव’ की पीड़ा और ‘स्वतन्त्रता से भय’ के निवारण हेतु हरबर्ट मारक्यूजे एवं एरिकफ्राम विकल्प खोजने में उलझ जाते हैं वही प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने सुव्यवस्थित एवं तार्किक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। यह विकल्प भी हन्ना आरेन्ट एवं ऑकशाट की तरह ग्रीककाल के चरण वन्दन की तरह भारतीय संस्कृति का वन्दन नहीं है। बल्कि, लेखक ने भारतीय आत्मप्रतिमा के साथ-साथ समकालीन अनुभवों के आलोक में परिष्कृत भारतीय संस्कृति में वैशिवक सभ्यता के सूत्र भी खोज निकाले हैं।

## हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में अभिव्यक्त नारी-छवि

निशि मोहन\*

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् समाज में आधारभूत परिवर्तन आया और उसके साथ-साथ समाज की महत्वपूर्ण इकाई नारी के विकास का ग्राफ तेजी से ऊपर उठा। आज की नारी अपार लगन, अथक परिश्रम एवं असीम धैर्य के बलबूते विकास के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी है। किन्तु समाज में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की कम संख्या तथा महिलाओं के प्रति बढ़ती आपाराधिक गतिविधियाँ, शारीरिक एवं मानसिक शोषण और यौन-उत्पीड़न की घटनाएँ समाज के साथ-साथ साहित्य-चिन्तन का विषय बन गया है। नारी-सम्बन्धित समस्याओं का समाधान साहित्य के माध्यम से सम्भव हो सकता है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण, सामाजिक आदर्शों का सप्त्य एवं मर्यादाओं का पालक होता है। साहित्य के सन्दर्भ में प्रेमचन्द का कथन है “साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य को खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते।... जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी मार ले जाता है।”<sup>1</sup> हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों विद्यार्थियों को भाषा-ज्ञान के अलावा भारत के गौरवमयी अतीत, उसकी सभ्यता-संस्कृति तथा सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक विविधता, उसकी समस्याओं आदि से परिचित कराने के साथ-साथ समाज में प्रचलित रुढ़ियों को परिष्कृत करने के लिए प्रेरित करती हैं। समाज में ‘नारी-सुरक्षा’ की समस्या का समाधान हूँड़ने हेतु पाठ्य-पुस्तकों में प्रस्तुत नारी-छवि का पुनरवलोकन करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि आज के विद्यार्थी भावी समाज के कर्णधार हैं और पाठ्य-पुस्तकों किशोरचित्त को प्रभावित करती हैं तथा व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यदि पाठ्य-पुस्तकों में प्रगतिशील, शिक्षित, जागरूक, जिम्मेवार, संघर्षशील तथा सशक्त

\* डॉ. निशि मोहन, ई-1/40, सेक्टर-14, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-160014; फोन नं.-2783757, मोबाइल-9779064401, (सी.बी.एस.ई., आई.सी.एस.ई., राजस्थान एवं पंजाब बोर्ड की कक्षा 11-12 सन्दर्भ में)

नारी की प्रस्तुति की जाए तो नारी को निर्वल, उपेक्षित एवं अधिकार विहीन समझने की धारणा निराधार सिद्ध होगी तथा समतामूलक (स्त्री-पुरुष समानता) एवं सह-अस्तित्वपरक समाज की परिकल्पना साकार हो सकेगी। इसके अलावा विद्यार्थी नारी के बहुआयामी व्यक्तित्व से परिचित होंगे।

इसी उद्देश्य-प्राप्ति हेतु प्रस्तुत शोध-पत्र में पाठ्य-पुस्तकों में प्रस्तुत नारी-छवि का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है और यह जानने का प्रयास किया गया है कि-

- पाठ्य-पुस्तकों में नारी-स्थिति कैसी है?
- क्या पाठ्य-पुस्तकों में नारी एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरी है!
- क्या महिला रचनाकारों को यथोचित स्थान प्राप्त है?
- क्या पाठ्य-पुस्तकों में नारी की परिवर्तित विकासोन्मुख छवि उभरी है?
- पाठ्य-पुस्तकों में प्रस्तुत नारी-छवि क्या नारी के प्रति समाज की मानसिकता में परिवर्तन लाने में सक्षम है?

### पाठ्य-पुस्तकों में नारी-स्थिति

सामान्यतः पाठ्य-पुस्तकों में नारी की प्रस्तुति दो रूपों में होती है—रचना में नारी-पात्र के रूप में तथा रचनाकार के रूप में। आमतौर पर किसी वस्तु-विशेष की स्थिति का आकलन उसकी महत्ता के आधार पर किया जाता है। इसलिए रचना और रचनाकार को आधार मानकर नारी—महत्ता को आँकने का प्रयास किया गया है। इसके लिए कुछ मानदंड निर्धारित किए गए हैं—

- नारी-प्रधान पाठ।
- महिला रचनाकारों की संख्या।
- पुरुष रचनाकारों की संख्या।
- महिला एवं पुरुष रचनाकारों का अनुपात

चार बोर्डों की पाठ्य-पुस्तकों में नारी-स्थिति को स्पष्ट करने हेतु उपर्युक्त तथ्यों से सम्बन्धित आँकड़ों को तालिकाओं के माध्यम से दर्शाया गया है।

### पाठ्य-पुस्तकों में नारी-प्रधान पाठ एवं महिला रचनाकार का समूल स्वरूप

विषय	सी.बी.एस.ई.	आई.सी. राजस्थान बोर्ड	पंजाब बोर्ड
अनिवार्य ऐच्छिक	एस.ई.	अनिवार्य ऐच्छिक	
नारी-प्रधान पाठ	9(20)	8(17)	3(8)
महिला रचनाकार	9(20)	3(6)	2(5)
		7(15)	3(6)
			6(10)

पुरुष रचनाकार	36(80)	44(94)	35(95)	40(85)	50(94)	54(90)
महिला व पुरुष						
रचनाकार का अनुपात	1:4	1:14	1:17	1:6	1:16	1:9

नोट : कोष्ठक में दिए गए अंक कुल अंकों का प्रतिशत दर्शाते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा बोर्डों एवं राज्य बोर्डों की पाठ्य-पुस्तकों के पाठों पर आधारित तालिका के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि जहाँ एक तरफ सी.बी.एस.ई., हिन्दी (अनिवार्य) विषय के तहत दस में से दो पाठ नारी-प्रधान हैं, वहाँ आई.सी.एस.ई. में दस में से औसतन एक पाठ भी नारी-प्रधान नहीं है। सी.बी.एस.ई., हिन्दी (ऐच्छिक) की पाठ्य-पुस्तकों और पंजाब बोर्ड की पाठ्य-पुस्तकों में नारी-प्रधान पाठों में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है अर्थात् पाँच पाठों में से औसतन एक पाठ भी नारी-प्रधान नहीं है। दूसरी तरफ, राजस्थान बोर्ड, हिन्दी (अनिवार्य) एवं ऐच्छिक की पुस्तकों में बड़ा विभेद दिखता है। हिन्दी (अनिवार्य) की पुस्तकों में दस में से तीन पाठ नारी-प्रधान पाठ हैं, जबकि ऐच्छिक की पुस्तकों में यह संख्या मात्र एक है।

महिला रचनाकार से सम्बन्धित आँकड़ों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी बोर्डों की पुस्तकों में महिला रचनाकारों की उपस्थिति कम है। सी.बी.एस.ई., हिन्दी (अनिवार्य) में महिला रचनाकार की भागीदारी सबसे अधिक (20%) है तथा महिला एवं पुरुष रचनाकारों का अनुपात 1 और 4 का है, जबकि आई.सी.एस.ई. की पुस्तकों में महिला रचनाकार की भागीदारी सबसे कम (5%) है और महिला एवं पुरुष रचनाकारों का अनुपात 1 और 17 का है यानी पुरुष रचनाकारों की 17 रचनाओं के बाद 1 महिला रचनाकार की रचना है। कुछ ऐसी ही स्थिति सी.बी.एस.ई., हिन्दी (ऐच्छिक) तथा राजस्थान बोर्ड, हिन्दी (ऐच्छिक) की पुस्तकों में महिला एवं पुरुष रचनाकारों का अनुपात क्रमशः 1 और 14 तथा 1 और 16 का है। राजस्थान बोर्ड, हिन्दी (अनिवार्य) एवं पंजाब बोर्ड की पाठ्य-पुस्तकों में महिला रचनाकार की स्थिति कुछ बेहतर है।

### महिला-लेखन

पुस्तकों में भिन्न-भिन्न कालों एवं भाषाओं के अनूदित महिला-लेखन को संकलित किया गया है। बारहवीं सदी की कन्नड शैव भक्त अक्क महादेवी के वचन, भक्तिकाल की मीराबाई के पद, बांग्ला भाषा में लिखी बेबी हालदार की आपबीती तथा आधुनिक उर्दू साहित्यकार रजिया सज्जाद जहीर की कहानी आदि।

महिला-लेखन के अन्तर्गत ईश्वर-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति, मातृ-प्रेम, पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक बदलाव, मानवेतर प्राणियों के प्रति संवेदनशीलता, पर्यावरण तथा

वृक्ष संरक्षण, सामाजिक विषमता, विकास के लिए आधारभूत परिवर्तन की आवश्यकता, भारत-विभाजन की त्रासदी, नारी-जीवन की त्रासदी, संघर्षरत सशक्त नारी, नारी-जीवन का यथार्थ, पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति आदि का वर्णन है। इसके अलावा विभिन्न विधाओं की भी अभिव्यंजना हुई है। जैसे—आत्मकथा, कहानी, कविता, जीवनी, संस्मरण, शब्दचित्र आदि।

महिला-लेखन में ग्रायः नारी की संघर्षशील एवं सशक्त छवि की प्रस्तुति अधिक हुई है। रचनाकार तथा नारी-पात्र के रूप में नारी की बहुआयामी प्रतिभा एवं शक्ति देखने को मिलती है।

### नारी-पात्र

‘पाठ्य-पुस्तक में वर्णित नारी-पात्र की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए नारी-पात्र के प्रति परिवार एवं समाज का व्यवहार तथा नारी-पात्र का स्वरूप एवं चरित्र पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

कुछ पाठों में नारी-पात्रों के प्रति परिवार एवं समाज का स्नेहमय, उदार एवं उत्साहवर्धक व्यवहार ध्यातव्य है तो कुछ पाठों में उपेक्षापूर्ण, अन्यायसंगत, अनुदार एवं अशोभनीय व्यवहार भी देखने को मिलता है। कुछ पाठों में नारी के प्रति नारी (विमाता एवं मौसी) के अत्यन्त तिरस्कृत, कठोर, निर्दयी एवं अशोभनीय व्यवहार की अभिव्यक्ति हुई है।

‘सरोज स्मृति तथा गुलाबी चुड़ियाँ’ कविता में बेटी के प्रति पिता के वात्सल्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, जो प्रशंसनीय एवं प्रेरणादायक है। ‘उपेक्षिता’ पाठ में बेटी के प्रति माँ का तथा ‘जन्मदिन’ पाठ में मनू के प्रति ताई का प्रेमपूर्ण एवं उदार व्यवहार प्रशंसनीय है।

‘नागमती वियोग खंड’, ‘बारहमासा’, ‘कामायनी’ एवं ‘अधिकार का रक्षक’ पाठ में पति का व्यवहार उपेक्षापूर्ण एवं निन्दनीय है। ‘बूढ़ी काकी’ में काकी के प्रति रूपा का, ‘धरती अब भी धूम रही है’ पाठ में नीना के प्रति मौसी का तथा ‘बिन्दा’ पाठ में बिन्दा के प्रति विमाता का व्यवहार अत्यन्त कठोर, निर्दयतापूर्ण, असंवेदनशील एवं निन्दनीय है।

‘दूध का दाम’, ‘आलो आँधारि’, ‘भक्तिन’, ‘वे आँखें’ आदि में पितृसत्तात्मक समाज में नारी के प्रति समाज का अशोभनीय एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहार देखने को मिलता है। ‘वे आँखें’ पाठ में नारी को पैर की जूती कहा गया है, जिसे इच्छानुसार बदला जा सकता है—

“खैर पैर की जूती जोर/न सही एक दूसरी आती।”<sup>2</sup> ‘लक्ष्मण मूर्छा और राम विलाप’ में नारी के सन्दर्भ में यह कथन “नारि हानि विशेष छति नाहीं।” नारी के प्रति समाज के उपेक्षापूर्ण एवं अन्यायसंगत व्यवहार की पुष्टि करता है। ‘उपेक्षिता’ पाठ में

नवजात कन्या के प्रति सगे-सम्बन्धी एवं समाज का व्यवहार उपेक्षापूर्ण और अशोभनीय है।

पाठ्य-पुस्तकों में भिन्न-भिन्न वर्ग, धर्म, अवस्था तथा पारिवारिक रिश्तों का निर्वहन करती नारी को प्रस्तुत किया गया है। माँ, बहन, पत्नी आदि पारिवारिक रिश्तों में बँधी भूमिकाओं के अलावा सधवा, विधवा, नवयुवती, बृद्धा, निर्धन, सम्प्रान्त, उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय, निम्नवर्गीय, दलित, शोषित आदि रूपों में नारी की प्रस्तुति हुई है। कुछ पाठों में समतामयी, धार्मिक, परोपकारी, साम्प्रदायिक एकता एवं सौहार्द में विश्वास रखने वाली, साहसी, संवेदनशील, दृढ़ प्रतिज्ञा आदि सात्त्विक गुणों से सम्पन्न नारी को प्रस्तुत किया गया है तो कुछ पाठों में ईर्ष्यालू, झगड़ालू, स्वार्थी, लालची आदि नकारात्मक विशेषताओं से सम्पन्न नारी को। उदाहरणस्वरूप—

मातृरूप में नारी, ईश्वर भक्ति में लीन नारी, सामाजिक अस्पृश्यता की शिकार दलित बालिका, पलायनवाद के कारण दुःखी ग्रामीण बालिका, लिंग भेदीय सामाजिक व्यवस्था की शिकार बालिका, निर्धन सुन्दर किशोरी, राष्ट्रभक्त वीरांगना नारी, विभाजन के दर्द को झेलती नारी, भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाती नारी, पर्यावरण के प्रति जागरूक नारी, प्रेरणास्रोत के रूप में नारी, परहितकारी नारी, परिवार एवं समाज के प्रति संवेदनशील नारी, बुद्धिमान विवेकशील पत्नी, साम्प्रदायिक एकता एवं सौहार्द की समर्थक नारी, अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए संघर्षरत नारी, आदर्शवादी नारी, अंधविश्वास में जकड़ी नारी, बेमेल विवाह की त्रासदी झेलती नारी, सामाजिक उपेक्षा की शिकार विधवा, पुरुष की बेवफाई की सजा झेलती विधवा, अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश विधवा, पति-परित्याग से दुःखी नारी, अपनों के हाथों प्रताड़ित वृद्धा, पति के दोहरे व्यक्तित्व के कारण दुःखी नारी, पति के निकम्मेपन के कारण दुःख झेलती नारी, दीन-हीन नारी, दबंगों के हाथों शोषित नारी, अकेलेपन से जूझती नारी, विरहानि में जलती प्रेमिका, विवेकहीन नारी, नकारात्मक विशेषताओं से सम्पन्न नारी आदि पाठों में नारी की वैविध्यपूर्ण छवि उभरी है।

### परिवर्तित विकासोन्मुख नारी-छवि

वर्तमान समय में वैयक्तिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से नारी-समाज में परिवर्तन लक्षित हो रहा है। नारी ने माँ, बहन, बेटी, प्रेयसी, पत्नी आदि भूमिकाओं तक सीमित न रहकर पुरुष के समान मानवता के पूरक तत्व के रूप में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास किया है। इकीसर्वीं सदी के समाज में नारी की एक नई छवि उभरी है, जो परम्परागत नारी-छवि से पर्याप्त भिन्न है, जिसे ‘परिवर्तित विकासोन्मुख छवि’ कहा जा सकता है। परिवर्तित विकासोन्मुख छवि का अभिप्राय ऐसी नारी-छवि से है, ‘जो स्वहित को नकारे बगैर परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति संवेदनशील एवं जागरूक हो।’ समाज में नारी की घटती संख्या तथा बढ़ती आपराधिक

गतिविधियों पर रोक लगाने तथा नारी के प्रति पुरुष-प्रधान समाज की मानसिकता में बदलाव लाने के लिए पाठ्य-पुस्तकों में नारी की विकासोन्मुख छवि की प्रस्तुति की आवश्यकता है। नारी की विकासोन्मुख छवि के दृष्टिकोण से चारों बोर्डों की निर्धारित पुस्तकों में वर्णित नारी-छवियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ज्ञान होता है कि पाठ्य-पुस्तकों में आधुनिक नारी की परिवर्तित विकासोन्मुख छवि की कमी है।

किन्तु अन्य बोर्डों की तुलना में सी.बी.एस.ई. हिन्दी (अनिवार्य) की पुस्तकों में स्वत्व के प्रति जागरूक, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति सजग, जिम्मेवार, प्रगतिशील विचारधारा की पोषक नारी की प्रस्तुति अपेक्षाकृत अधिक हुई है। पाठ ‘रजनी’, ‘आओ मिलकर बचाएँ’, ‘भारतीय गायिकाओं में बेजोड़ : लता मंगेशकर’, ‘डायरी के पन्ने’, ‘नमक’, ‘आलो आँधारि’ तथा ‘भक्तिन’ पाठ में नारी की परम्परागत छवि से हटकर परिवर्तित छवि उभरी है। ‘रजनी’ पाठ की नायिका स्कूल में ट्यूशन के नाम पर विद्यार्थी तथा अभिभावक के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाती है। ‘नमक’ पाठ की साफिया दोनों देशों के लोगों के बीच प्रेम एवं विश्वास कायम करने का प्रयास करती है। वह पाकिस्तान से आई सिख बीबी के लिए लाहौर से नमक लाती है, जबकि नमक लाने पर पाबन्दी है। साफिया की नेकदिली और ईमानदारी को देख पाकिस्तानी कस्टम अधिकारी उसे बेरोक-टोक नमक ले जाने देता है। वह कहता है—“उस खातून को नमक देते वक्त कहिएगा कि लाहौर अभी भी उनका वतन है और देहली मेरा, बाकी सब रफ्ता-रफ्ता ठीक हो जाएगा।”<sup>3</sup> आलो आँधारि पाठ की निडर, साहसी, कामकाजी, स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी एवं कर्मठ बेबी हालदार अल्पशिक्षित होते हुए भी समाज की रुढ़ मान्यता ‘पति परमेश्वर’ को तिलांजलि देकर अकेले ही पारिवारियों का निर्वहन करती है। ‘आओ मिलकर बचाएँ’ कविता में कवयित्री निर्मला पुतुल प्रकृति की गोद में पलने-बढ़ने वाले आदिवासी समाज को जंगलों की कटाई से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से आगाह करती है ताकि—“जंगल की ताजी हवा/नदियों की निर्मलता/पहाड़ों का मौन/गीतों की धुन/फसलों की लहलहाहट।”<sup>4</sup> बनी रहे।

सी.बी.एस.ई. (ऐच्छिक) की पाठ्य-पुस्तक में ‘सूरदास की झोपड़ी’ पाठ की सुभगी अपने पति के झूठे आरोप तथा मारने-पीटने पर विरोध जताती है। ‘ज्योतिबा फुले’ पाठ में ज्योतिबा फुले की धर्मपत्नी सावित्रीबाई दलित समाज के विकास तथा नारी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए पति के साथ मिलकर पचास वर्षों तक सामाजिक कार्यों में हाथ बँटाती हैं।

आई.सी.एस.ई. की पुस्तक में संकलित पाठ ‘धीसा’ में निम्नवर्ग की स्वाभिमानी, परिश्रमी, संघर्षशील विधवा की प्रस्तुति है, जो सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का सामना करती है, किन्तु हार नहीं मानती है। वह अविवाहित तथा विधुरों के शादी के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहती है—“हम सिंह के मेहरारू होय के का सियारन के जाव?”<sup>5</sup> वह मजदूरी का गुजर-बसर करती है। पाठ्य-पुस्तक ‘निर्मला’ की नारी-पात्र

कल्याणी अपने पति के विरुद्ध आवाज उठाती है। कल्याणी कहती है—“घर में तुम्हारा जितना अधिकार है उतना ही मेरा भी इससे जौ भर कम नहीं।”<sup>6</sup>

राजस्थान की वीर प्रसूता धरा के समान ही राजस्थान बोर्ड की पुस्तकों में साहसी वीरांगना नारी की प्रस्तुति अधिक हुई है। पुस्तकों में नारी की स्नेहमयी, आदर्शवादी, परिवारिक एवं साहसिक छवि प्रमुखकता से उभरी है, किन्तु आधुनिक विकासोन्मुख नारी की कमी नजर आती है। ‘सबला’, मेंहदी के फूल’, ‘पुरस्कार’, ‘ध्रुवश्री’ नाटक तथा ‘नहुष’ खंडकाव्य में साहसी, स्वाभिमानिनी, परिश्रमी, संघर्षशील नारी की प्रस्तुति हुई है। ‘सबला पाठ की नायिका पतिता की पुत्री, समाज के बनाए उस्तूलों को तोड़ शादी करती है लेकिन ससुराल वाले उसे स्वीकार नहीं करते। पति के मरणोपरांत वह ससुराल जाना चाहती है, किन्तु ससुर कहता है—“अपनी माँ के पास लौट जाओ। हमारे कुल में दाग लगाकर भी क्या तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ।”<sup>7</sup> किन्तु वह माँ के पास नहीं लौटती है, विधवाश्रम में पनाह लेती है तथा सिलाई-बुनाई कर अपना गुजर-बसर करती है। उसके साहस, स्वाभिमान, कर्मठता एवं दृढ़ संकल्प-शक्ति को देख महादेवी उसे सबला कहती हैं।

पंजाब बोर्ड की पुस्तकों में नारी की पारिवारिक, आदर्शवादी, साहसी छवि के अतिरिक्त पर्यावरण एवं समाज के प्रति जागरूक, संवेदनशील तथा स्वत्व के लिए संघर्षरत छवि राजस्थान बोर्ड के अपेक्षाकृत अधिक उभरी है। ‘उपेक्षिता’ पाठ की कमला अपनी बेटी के जन्म पर दुःखी नहीं होती है, वह उसे बोझ नहीं समझती है। मौसी के उपेक्षापूर्ण कथन—“तेरी क्या जरूरत थी, आगे क्या कम थीं...और तू आ गई।”<sup>8</sup> को सुनकर माँ का दिल आहत होता है—इसलिए जब मौसी उसे उठाना चाहती है तो कमला कहती है—“बेजी शायद आपसे सँभलेगी नहीं।” ‘कच्चे रंग’ कविता में गीता डोगरा ने तेजी से बदलते पारिवारिक सम्बन्धों को प्रस्तुत किया है। मिट्टी से बने घर में माँ और उसकी ममता बसती थी, वह कच्चे रंगों से घर के सदस्यों का नाम लिखती थी, लेकिन अब सीमेंट पत्थर से बने घर में पथर-दिल इन्सान रहता है, जो रिश्तों को तराजू पर तौलता है। ‘स्त्री के अर्थ-स्वातन्त्र्य का प्रश्न’ निबन्ध में लेखिका ने नारी की आत्मनिर्भरता एवं सुदृढ़ आर्थिक स्थिति की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। ‘रीढ़ की हड्डी’ पाठ में उमा के रूप में रुढ़ परम्परा विरोधी सशक्त नारी-छवि को उकेरा गया है।

ऐसे पाठ विद्यार्थियों को नारी की जागरूक, संघर्षशील एवं सशक्त छवि से आमना-सामना कराते हैं। लेकिन कुछ पाठों में नारी की अप्रासंगिक, अशोभनीय, अन्धविश्वासी एवं रुढ़िवादी छवि उकेरी गई है। उदाहरणस्वरूप—

सी.बी.एस.ई. हिन्दी (अनिवार्य) की पुस्तक आरोह भाग-1 में संकलित ‘चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चिह्नती’ कविता में अशिक्षित ग्रामीण बालिका के रूप में नारी की परम्परागत भावनात्मक छवि उकेरी गई है। अशिक्षित बालिका अज्ञानवश शिक्षा

को नारी-जीवन के दुःख का कारण मानती है, क्योंकि शिक्षित बेरोजगार पुरुष रोजगार की तलाश में शहर चला जाता है और पत्नी को पति-वियोग का दुःख झेलना पड़ता है। इसलिए वह पढ़ना नहीं चाहती, यहाँ तक कि वह गाँधी जी को भी गलत समझती है। वह कहती है—

“मैं तो नहीं पढ़ूँगी  
तुम तो कहते थे गाँधी बाबा अच्छे हैं  
वे पढ़ने-लिखने की कैसे बात कहेंगे  
मैं तो नहीं पढ़ूँगी।”<sup>9</sup>

वर्तमान समय में सरकार सर्वशिक्षा अभियान चलाकर जन-जन को शिक्षित करना चाहती है, नारी-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दे रही है, ‘शिक्षा का अधिकार’ कानून बन चुका है। ऐसी स्थिति में पाठ्य-पुस्तकों में प्रस्तुत कविता शिक्षा के प्रति नारी की उदासीनता को प्रकट करने के साथ-साथ अशिक्षित नारी को शिक्षा के लिए प्रेरित करने में असफल एवं वर्तमान समय में अप्रासंगिक प्रतीत होती है।

‘वे आँखें’ कविता में नारी के सन्दर्भ में यह कथन—

“खैर पैर की जूती जोरु/न सही एक, दूसरी आती”<sup>10</sup> पाठ्य-पुस्तक में अनुचित प्रतीत होता है। आज की नारी घर-परिवार के सीमित दायरे से बाहर निकल गाढ़ीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर समाज एवं राष्ट्र के हित में महत्वपूर्ण जिम्मेवारियों का संचालन कर रही है, पुरुषों के कंधे-से-कंधा मिलाकर विकास के प्रायः सभी कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। ऐसी दशा में पाठ्य-पुस्तक में नारी के सन्दर्भ में ऐसी उक्ति अशोभनीय एवं समकालीन नारी-जीवन से मेल नहीं खाती है।

सी.बी.एस.ई. हिन्दी (अनिवार्य) की पुस्तक आरोह भाग-2 में तुलसीदास द्वारा विरचित ‘लक्षण मूर्छा’ और ‘राम का विलाप’ प्रसंग में नारी के सन्दर्भ में यह पंक्ति—

“नारि हानि विशेष छति नाहीं।”<sup>11</sup> आज अनुपयुक्त प्रतीत होती है। समाज के विकास में नारी-महत्ता से भली-भाँति परिचित सरकार भूषण-हत्या पर पाबन्दी लगा नारी-संख्या में वृद्धि लाने तथा उसके बेहतर जीवन के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोजगार के लिए तरह-तरह के कार्यक्रम चला रही है, वहीं पाठ्य-पुस्तक में नारी के सम्बन्ध में ऐसी टिप्पणी अशोभनीय एवं समग्र नारी-महत्व को एक सिरे से नकारने वाली है, ऐसी पंक्तियों को पाठ्य-पुस्तक में सम्मिलित करना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता है।

‘काले मेघा पानी दे’ पाठ में अन्धविश्वासी रुद्र परम्परावादी नारी की प्रस्तुति हुई है। यह पाठ रुद्र परम्परा एवं अन्धविश्वास (वर्षा के लिए इन्दर सेना पर पानी फेंककर इन्द्र को प्रसन्न करने की धारणा) को पुष्ट करता है।

आई.सी.एस.ई. की पुस्तक ‘कथा सुरभि’ में संकलित ‘कर्मनाशा की हार’ पाठ में नारी के द्वारा नारी के लिए अशोभनीय, अभद्र देशज शब्दों (गाली के शब्द जिनका जिक्र नहीं किया जा सकता है) का प्रयोग किया गया है, जो अवांछनीय एवं अशोभनीय है।

राजस्थान बोर्ड की पुस्तक ‘कथा-वल्लरी’ में संकलित रचना ‘प्रतिचोट’ मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है, जो आर्थिक तंगी के कारण माँ बेटे की इच्छा पूरी करने में असमर्थ है। आहत बाल-मन अवसर पाकर प्रतिचोट करता है। नकुल अपनी नई साइकिल को तोड़ देता है। पाठ का अन्त माँ के रोषपूर्ण क्रूर व्यवहार से होता है—‘तड़ातड़ चाँटे पड़ने शुरू हो गए। नकुल धूना जा रहा था।’<sup>12</sup>

यद्यपि यह कहानी बाल-मन में उठने वाले भावों का सत्योदयाटन करने में सफल है, किन्तु ऐसे पाठ न तो किशोर चित्त को रोमांचित करते हैं और न ही कर्तव्यभाव को जगाते हैं, वरन् अतीत में ज्ञाँक अपने माता-पिता के प्रति धृणा के भाव उत्पन्न कर सकते हैं।

गद्यालोक-विष्णु प्रभाकर रचित एकांकी ‘ममता का विष’ में मानसिक रूप से बीमार माँ का मनोवैज्ञानिक वित्रण है। पाठ में प्रस्तुत माँ का स्वभाव व्यावहारिक जगत में मातृ स्वभाव से मेल नहीं खाता, क्योंकि माँ बच्चे के सुखमय भविष्य के लिए अपने हितों को अनदेखा करती है। पाठ में प्रस्तुत नारी-छवि न तो विद्यार्थियों के लिए प्रेरणादायक है और न ही उत्साहवर्धक।

पंजाब बोर्ड की पुस्तक में संकलित पाठ ‘अधिकार का रक्षक’ में पति के दोहरे व्यक्तित्व से खिन्न नारी का बेटे के प्रति कठोर अनुदारातापूर्ण व्यवहार अवांछनीय है। ‘टूटते परियेश’ पाठ में आधुनिक युग की विसंगतियों का सत्योदयाटन हुआ है। अति आधुनिक विचारधारा के युवा पात्रों का वर्णन है, मनीषा बिना बताए असद से शादी करती है। दीप्ति सिंगरेट पीती है तथा बालिग होने का बेसब्री से इन्तजार करती है—“परसों मैं बालिग हो जाऊँगी। यानी स्वतन्त्र। मैं बंधनों को तोड़ डालना चाहती हूँ। व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देना चाहती हूँ।”<sup>13</sup> तो विवेक कहता है—“मैं इस घर की घुटन और सीलन से मुक्ति पाना चाहता हूँ। पाठ में प्रस्तुत पात्रों की अतिस्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति विद्यार्थियों के अन्तर्मन में सुसुप्त स्वच्छन्द एवं अराजक विचारधारा को जाग्रत करने में सहायत हो सकती है। अतः इनका चयन गलत है।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि पाठ्य-पुस्तकों में रचना और रचनाकार की दृष्टि से नारी-स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। नारी-प्रधान पाठ तथा महिला रचनाकारों की संख्या के सन्दर्भ में किसी निश्चित नियमावली का पालन नहीं किया गया है। महिला-लेखन की विषय विविधता को देखते हुए महिला-लेखन के सन्दर्भ में ‘गागर में सागर’ समाने की उक्ति युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

समकालीन समाज की तरह ही पाठों में नारी-पात्रों के प्रति अच्छा और बुरा बर्ताव दृष्टिगोचर होता है, नारी-पात्रों के प्रति प्रेमपूर्ण, उदार, सहयोगी एवं उत्साहवर्धक व्यवहार जहाँ उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है, वहीं उपेक्षापूर्ण, अन्यायपूर्ण एवं अशोभनीय व्यवहार नारी-जीवन में दुःख-विषाद का मुख्य कारण होता है, जो पाठ्य-पुस्तकों में स्पष्ट रूप से उभरा है। इसलिए नारी-विकास के लिए घर-परिवार में उसके प्रति प्रेमपूर्ण उदार वातावरण विकसित करने की आवश्यकता है।

एक ओर पाठ्य-पुस्तकों में नारी की पारिवारिक, परम्परागत, आदर्शवादी छवि प्रमुखता से उभरी है, जो समर्पण संस्कार में पली-बढ़ी होने के कारण अपने हितों का अनदेखा करती है तो कुछ पाठों में अपने स्वत्व के लिए संघर्षरत नारी की अभिव्यक्ति भी हुई है, लेकिन पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी छवि अपेक्षाकृत कम उभरी है।

जहाँ एक ओर राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत पाठों में नारी की देशभक्ति, साहसी, वीरांगना छवि की अभिव्यक्ति नारी-शक्ति का धोतक है, वहीं कुछ पाठों में वर्णित नारी की दीन-हीन, दलित-दमित, लाचार-विवश, विरह-व्यथित, नकारात्मक विशेषताओं से सम्पन्न छवि नारी को अबला, कमज़ोर एवं महत्वहीन समझने की धारणा को पुष्ट करती है, अतएव पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी छवियों की अधिकता नहीं होनी चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकों में आधुनिक नारी की परिवर्तित विकासोन्मुख छवि की कमी दिखती है। चारों बोर्डों की तुलना में सी.बी.एस.इ., हिन्दी (अनिवार्य) की पुस्तकों में प्रगतिशील, शिक्षित, जागरूक, जिम्मेवार तथा सशक्त नारी की प्रस्तुति अपेक्षाकृत अधिक हुई है। लेकिन कुछ पाठों में अन्धविश्वासी, रुढ़ परम्परावादी तथा नारी-जाति के प्रति हीन भावना भी उभरी है। आई.सी.एस.इ. के हिन्दी विषय का पाठ्यक्रम अन्य बोर्डों से भिन्न होने के कारण नारी की प्रस्तुति कम होने के साथ-साथ पाठों में नारी की विकासोन्मुख छवि का अभाव दिखता है। नारी की उत्पीड़ित, उत्पीड़िक तथा नकारात्मक छवि की प्रस्तुति अपेक्षाकृत अधिक हुई है। राजस्थान बोर्ड की पुस्तकों में नारी की पारिवारिक, आदर्शवादी, कर्तव्य-परायण, साहसी, वीरांगना छवि की प्रस्तुति अधिक हुई है, किन्तु आधुनिक विकासोन्मुख नारी की कमी नजर आती है। पंजाब बोर्ड की पुस्तकों में आधुनिक समाज की विसंगतियों से जूझती नारी का प्रदर्शन हुआ है, किन्तु विकासोन्मुख नारी की सकारात्मक छवि स्पष्टता से नहीं उभरी है।

समाज में स्त्री-पुरुष समानता स्थापित करने हेतु नारी-स्थिति में सुधार की आवश्यकता है। इसलिए पाठ्य-पुस्तकों में नारी की रुढ़ परम्परावादी, दीन-हीन, विवश-लाचार, दलित-दमित एवं दोयम दर्जे की छवि की जगह नारी की परिवर्तित विकासोन्मुख छवि की प्रस्तुति आवश्यक है। पाठों में सजग, सफल, सशक्त नारी-छवि की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समाज व राष्ट्र से सम्बन्धित कार्यों में संलग्न हो तथा उनके कार्यकलाप औरों से भिन्न एवं विशिष्ट हों, ताकि वे विद्यार्थियों के लिए प्रेरणादायक, अनुकरणीय तथा प्रभावोत्पादक हो सकें।

प्रादेशिक-भाषा के प्रभाववश हिन्दी-भाषा के उच्चारण एवं लेखन सम्बन्धी अशुद्धि, वैश्वीकरण के कारण विदेशी-भाषा की बढ़ती माँग तथा किलप्ट शब्दों के प्रयोग के कारण विद्यालयों में हिन्दी विषय की लोकप्रियता दिनानुदिन कम हो रही है। ऐसी दशा में पाठ्य-पुस्तक निर्माण-समिति को विद्यालय स्तर की हिन्दी पाठ्य-पुस्तक की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विद्यालय स्तर की पाठ्य-पुस्तकों हिन्दी उच्च शिक्षा की नींव हैं और सुटूँ नींव की विसात पर ऊँची सुटूँ इमारत खड़ी होती है। ग्यारहवीं एवं बारहवीं कक्षा के विद्यार्थियों की अवस्था ऐसी होती है, जो न तो पूरी तरह से बौद्धिक एवं मानसिक रूप से विकसित होती है और न ही अविकसित; अतएव उनकी रुचि, आवश्यकता एवं अवस्था को ध्यान में रखकर हिन्दी विषय का पाठ्यक्रम एवं पाठों का निर्धारण करना चाहिए।

भारत एक विकासशील राष्ट्र है। आज भी देश की 2/3 आबादी गाँवों में बसती है तथा 1/3 महिलाएँ निरक्षर हैं, इसलिए पाठ्य-पुस्तकों में ग्रामीण निरक्षर नारी की प्रस्तुति स्वाभाविक है, किन्तु अशिक्षित ग्रामीण नारी की संघर्षशील, स्वत्व के प्रति जागरूक एवं सशक्त छवि नारी के प्रति स्वस्थ मानसिकता पैदा करने तथा समतामूलक सह-अस्तित्वपरक समाज की स्थापना में सहायक हो सकती है।

समाज की अर्धांश, मानव सभ्यता की अधिष्ठात्री, घर-परिवार एवं समाज में महत्वपूर्ण भागीदारी निभाने वाली नारी, पाठ्य-पुस्तकों में मुख्य विषय के रूप में नहीं उभर सकी है। समकालीन समाज में नारी-विकास तथा नारी-सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए पाठ्य-पुस्तकों में नारी की विकासोन्मुख छवि की प्रस्तुति आवश्यक है। इसलिए पाठ्य-पुस्तक निर्माण समिति को पाठों का संकलन करते समय नारी को मुख्य विषय के रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ महिला रचनाकारों की संख्या तथा नारी की सकारात्मक विकासोन्मुख छवि की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि किसी भी समाज व देश का भविष्य वच्चों पर निर्भर करता है। आज के विद्यार्थी देश के भविष्य हैं तथा विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में पाठ्य-पुस्तकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

## आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा-दृष्टि (रीतिकाव्य के सन्दर्भ में)

श्वेता पपरेजा\*

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल सबसे विवादास्पद काल है। इस पर सदा से ही आलोचकों की नकारात्मक दृष्टि रही है। अधिकतर आलोचक इस साहित्य के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं। यों तो कई समालोचकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य की समीक्षा की है, परन्तु यहाँ हम आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के रीतिकालीन साहित्य सम्बन्धी विचारों को जानने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी आलोचना के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के आलोचक रूप के लिए या तो शुक्लानुवर्ती आलोचक या शुक्ल परम्परा के आलोचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी पुस्तक ‘हिन्दी आलोचना’ में ‘शुक्लानुवर्ती आलोचक’ शीर्षक अध्याय में आचार्य शुक्ल की आलोचना के विषय में लिखते हैं :

1. शुक्ल जी साहित्य की समीक्षा सहदयतापूर्वक करते हैं और कोई पंक्ति उन्हें क्यों अच्छी लग रही है, यह बताते समय उस परिस्थिति की व्याख्या करते हैं, जो पंक्ति द्वारा संकेतित होती है।

2. वे परिस्थिति और भाव का सम्बन्ध जोड़कर उनकी व्याख्या करते हैं और अपनी व्याख्या के सन्दर्भ में काव्यशास्त्रीय विवेचना करते हैं।<sup>1</sup> इसके आगे त्रिपाठी जी लिखते हैं—“यहाँ उन आलोचकों की चर्चा की जा रही है, जिनकी आलोचनात्मक कृतियों में आचार्य शुक्ल की ये विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। ऐसे आलोचकों में पं. कृष्णशंकर शुक्ल और पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रमुख हैं।”<sup>2</sup> शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि से उनके समकालीन और परवर्ती आलोचक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

\*श्वेता पपरेजा, शोधार्थी, मानविकी विद्यापीठ, टैगोर भवन, ब्लाक एफ, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली; पता : 366-बी, पॉकेट-2, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091; मो. 9868222242

अब प्रश्न यह उठता है कि शुक्लानुवर्ती आलोचकों में केवल पं. कृष्णशंकर शुक्ल और मिश्र जी जैसे आलोचकों को ही क्यों शामिल किया जाये? इसका तर्क देते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं, “शुक्लानुवर्ती आलोचक पं. रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा का विकास नहीं करते, इनकी समाई उन्हीं के आलोचक व्यक्तित्व में हो जाती है। इन्हें शुक्लानुवर्ती इसी बात को ध्यान में रखकर कहा गया है।”<sup>3</sup>

सन् 1936 में मिश्र जी ने बिहारी पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। यही शोध-प्रबन्ध ‘बिहारी की वाग्विभूति’ नाम से पुस्तक के रूप प्रकाशित हुआ। रीतिकालीन कविता पर केन्द्रित मिश्र जी की यह पहली पुस्तक है। इससे पहले मिश्र जी अपने सम्पादकत्व में भूषण के छत्रसाल दशक (1929), शिवा बावनी (1930), जसवन्त सिंह का भाषा-भूषण (1933), भूषण ग्रन्थावली (1931), पद्माकर की गंगालहरी (1934), जगद्विनोद (1934), चन्दशेखर वाजपेयी का हम्मीर-हठ की टीका या भाष्य सहित संकलन करके प्रकाशित करा चुके थे। आगे चलकर उन्होंने केशवदास, घनानन्द, बोधा, जसवन्त सिंह, भिखारीदास जैसे रीतिकाल के महत्वपूर्ण कवियों पर स्वतन्त्र पुस्तके भी लिखीं। इनकी पुस्तक ‘हिन्दी साहित्य का अतीत—भाग 2: शृंगारकाल’ रीतिकाल की अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक है। यह पुस्तक 1960 ई. में प्रकाशित हुई थी। इसे रीतिकाल पर मिश्र जी की प्रतिनिधि पुस्तक कहा जा सकता है। मिश्र जी की यह रचना रीतिकाल के विवेचन विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में रीतिकाल के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण विन्दुओं पर विचार किया गया है। अब हम इन्हीं विन्दुओं के आधार पर मिश्र जी के रीतिकालीन साहित्य सम्बन्धी विचारों पर चर्चा करेंगे।

### नामकरण

हिन्दी साहित्य में विक्रमी संवत् 1700-1900 तक के काल को शुक्ल जी ने ‘रीतिकाल’ कहा है। वैसे आचार्य शुक्ल से पहले जॉर्ज ग्रियर्सन अपनी पुस्तक ‘द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान’ में ‘रीतिकाव्य’ शब्द का प्रयोग कर चुके थे। संस्कृत काव्यशास्त्र में तो बहुत पहले ‘रीति सम्प्रदाय’ नाम प्रसिद्ध हो चुका था, जिसमें ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ की बात कही गयी थी, परन्तु हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों और कवियों ने ‘रीति’ शब्द का व्यवहार परम्परा के रूप में ही किया था। रीति का अर्थ है—‘विशिष्ट पद रचना’। रीतिकालीन कवियों के लिए रीति का अर्थ ‘काव्य रचना पद्धति’ ही है। ‘रीतिकाल’ नामकरण करते हुए आचार्य शुक्ल के मन में लक्षण-उदाहरण की परिपाठी में रचित काव्य ही था। भक्तिकालीन कविता से इस नई प्रवृत्ति को अलग करने के लिए ही आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल नाम दिया। रीतिकालीन कविता को दरबारी कविता भी कहा जाता है, क्योंकि रीतिकाल के अधिकतर कवि

शासकों के दरबार से जुड़े हुए थे और राजा-महाराजाओं या सामन्तों के आश्रय में रहते हुए उनके लिए काव्य की रचना करते थे।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस कालखण्ड को ‘शृंगारकाल’ नाम देने के पक्ष में हैं। उनकी मान्यता है कि इस काल के कवियों की रुचि विशेष रूप से शृंगार काव्य लिखने की ही थी। अतः रीति नाम देने से इस मुख्य प्रवृत्ति की महत्ता ज्ञात नहीं होती, इसलिए इसे शृंगारकाल ही कहा जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में मिश्र जी से पहले इस बात का जिक्र कर दिया था कि “वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है”<sup>4</sup> मिश्र जी ने स्वयं यह कहकर स्थिति स्पष्ट कर दी है कि शृंगारकाल की सीमा के भीतर शृंगार के अतिरिक्त वीर रस और भक्ति रस की रचना बराबर होती रही। पर वीर रस की रचना थोड़ी है और जिन्होंने वीर रस की रचना की, वे शृंगार की रचना से विरत नहीं थे। उस युग की भक्ति की रचनाओं में भी मिश्र जी शृंगार का आधिक्य मानते हैं। उनका विचार है कि उस युग में शृंगार-ही-शृंगार दिखाई देता है। इसलिए उसे रीतिकाल मानने वाले विद्वान भी रस-दृष्टि से ‘शृंगारकाल’ कहना उचित समझते हैं।

मिश्र जी के अनुसार कृति, विषय और पद्धति को दृष्टि में रखते हुए विभाजन तथा नामकरण होता है। आदिकाल की अधिकतर रचनाओं का नाम रासो है, इसलिए कुछ लोग उसे ‘रासो काल’ कहना ही ठीक समझते हैं। कभी-कभी कोई विशिष्ट पद्धति भी नामकरण का आधार बनती है, जैसे हिन्दी का आधुनिक काल गद्यकाल कहलाता है। मिश्र जी मानते हैं कि यदि रीतिकाल के समस्त ग्रन्थों की छानबीन की जाए तो किसी-न-किसी रूप या परिमाण में शृंगार अवश्य मिल जाता है। अन्य रसों का वर्णन करने वाले भी शृंगार का वर्णन अवश्य करते थे। वे कहते हैं कि रीति के अधिकांश ग्रन्थ तो शृंगार-प्रधान हैं ही और ग्रन्थ भी शृंगार-संवलित हैं। रीतिकाल के कवियों का साध्य शृंगार था, पर कभी-कभी ये कवि ‘रीति’ से साधन का काम लेते थे। मिश्र जी के अनुसार इन्होंने रीति का पल्ला सहारे के लिए पकड़ा, कहना ये चाहते थे शृंगार ही। यदि तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में देखा जाए तो भी शृंगार ही इनका प्रतिपाद्य रहा, क्योंकि इस काल के अधिकतर कवि दरबारी-कवि थे। मिश्र जी ने ‘रीतिकाल’ तथा ‘अलंकृतकाल’ में अव्याप्ति दोष मानते हुए ‘शृंगारकाल’ नाम को युक्ति-युक्त माना।

### काल-सीमा तथा विभाजन

मिश्र जी आलोच्य काल का आरम्भ संवत् 1600 के आस-पास मानते हैं। वे संवत् 1600 से 1700 तक शृंगार का प्रस्तावना काल अथवा उपक्रम काल मानते हैं तथा 1900 से 1975 तक अवसानकाल अथवा उपसंहार काल। वे काल सीमा के प्रश्न को

निश्चित सन् अथवा संवत से मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे मानते हैं कि कोई भी प्रवृत्ति एकाएक आरम्भ या समाप्त नहीं होती। उसका प्रारम्भ या समाप्त धीरे-धीरे होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृंगारकाल को दो भागों में विभाजित किया—रीतिबद्ध काव्यधारा तथा रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्यधारा। रीतिबद्ध काव्यधारा का पुनः दो भागों में वर्गीकरण किया। एक को लक्षणबद्ध काव्य नाम दिया तथा दूसरे को लक्ष्यमात्र कहा। फिर रीतिमुक्त काव्य को रहस्योन्मुख काव्य तथा शुद्ध प्रेमकाव्य में विभाजित किया।

### रीतिबद्ध काव्य

लक्षण युक्त काव्य रीतिबद्ध काव्य कहलाता है। रीतिग्रन्थों की रचना काव्यशास्त्रीय नियमों से बँधकर की जाती है। इसलिए इसे शास्त्रीय काव्य भी कहा जाता है। रीतिबद्ध काव्यधारा की मुख्य प्रवृत्ति है—लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन, जिनमें विविध काव्यांगों का विवेचन किया गया है। इनके लिए संस्कृत की काव्यशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों को आधार बनाया गया है। मिश्र जी रीतिकाव्य में रीतिविवेचन की दो पद्धतियाँ मानते हैं। पहली में काव्य के एक या दो अंगों का संक्षेप में दोहे आदि में विवेचन होता है और दूसरी में उदाहरण दिए जाते हैं, जिसके लिए कवित, सर्वैया छन्द का प्रयोग होता है। मिश्र जी का मानना है कि हिन्दी के मध्यकालीन लक्षण ग्रन्थ शास्त्र चिन्तन के लिए नहीं बने। हिन्दी में कवि स्वयं अपने उदाहरण देते थे। इस प्रकार लक्षण ग्रन्थ लक्ष्य बनाने के लिए सहारे का काम करते थे। मिश्र जी के अनुसार हिन्दी में नायिका-भेद के क्षेत्र में भी कोई उद्घावना नहीं हुई। हाँ, भिखारीदास को अवश्य वे कुछ नया कहने वाला मानते हैं।

रीतिबद्ध काव्य के विषय में मिश्र जी का कथन है कि “रीतिबद्ध काव्य हिन्दी को शृंगार की उकित्यों का जैसा भारी भंडार सौंप गया है, उसमें कूड़ा-करकट या केवल अशिष्ट या अश्लील वर्णन ही नहीं हैं, उसमें शृंगार की प्रभूत परिमाण में इतनी अच्छी-अच्छी उकित्याँ भी संचित हैं, जितनी संस्कृत क्या किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसे इसकी कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने वाले महानुभावों ने भी स्वीकार किया है।”<sup>5</sup> रीतिकाव्य की प्रवृत्ति दरबारी थी। यह साहित्य जनता के सम्पर्क में न होकर दरबार के सम्पर्क में था। दरबारी विलासिता इस साहित्य में भी आ गयी। दरबारी कवियों ने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में कई अतिशयोक्तिपूर्ण बातें भी लिखीं, जिससे रीति साहित्य चमत्कार और अतिशयोक्ति आदि के दलदल में धूँस गया। आचार्य मिश्र ने माना है कि रीतियुग के कवियों द्वारा किए गए सारे प्रयास विशुद्ध साहित्य प्रयोजनार्थ हैं। वे शृंगारिक एवं मुक्तक रचनाओं को समय की माँग मानते हैं। मिश्र जी शृंगार की अधिकतम रचना को दरबारी मानते हैं। प्रेम की विषमता जैसी रीतिमुक्त कवियों की रचना में मिलती है, वैसी रीतिबद्ध कवियों की कृति में वे नहीं

मानते। रीतिमुक्त रचना के मुक्तक रहने का कारण भी मिश्र जी के अनुसार राजदरबार ही है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार रीतिशास्त्र का सम्यक् प्रवर्तन केशवदास द्वारा हुआ। वे केशवदास का महत्त्व बताते हुए कहते हैं—“आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें हृदयहीन क्या लिख दिया, वे बेचारे रसिकों, सहदयों, कवियों सबकी मंडली से खारिज किए जाने लगे।...प्रकृति के प्रति उनके हृदय में वह राग नहीं था, जिसका हांसा कवि के लिए अपेक्षित है। पर यह तो हिन्दी के सभी कवियों के लिए है। केवल केशव ही प्रकृति से उदासीन नहीं, सारा मध्यकालीन काव्य उदासीन है।”<sup>6</sup> रीतिबद्ध काव्य करने वालों में मतिराम को मिश्र जी विलक्षण कवि मानते हैं। इसी के साथ उन्होंने देव, भिखारीदास, पद्माकर आदि के आचार्यत्व विवेचन आदि का भी वर्णन किया है।

### रीतिसिद्ध काव्य

इस धारा के कवियों ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्त या लक्षण प्रस्तुत नहीं किए हैं, केवल कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ काव्यशास्त्र के लक्षणों को ध्यान में रखकर ही लिखी गई हैं। रीतिसिद्ध कवियों के विषय में मिश्र जी का विचार है कि ऐसे कवि लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भाँति रीति की शास्त्रकथित बातों का पूरा पालन नहीं करते थे। कहीं तो ये चमत्कारातिशय के लिए उकियाँ बँधते थे और कहीं रसाभिव्यक्ति के लिए रीतिशास्त्रों की सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव से प्राप्त सामग्री का समावेश करते थे। मिश्र जी ने रीतिसिद्ध कवियों के अन्तर्गत उन कवियों का वर्णन किया है, जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी। इन कवियों ने लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतन्त्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं। इनकी रचनाएँ रीति की परिपाठी के अनुकूल ही हैं। मिश्र जी रीतिसिद्ध कवियों को मध्यमार्ग कवि कहते हैं, क्योंकि ये कवि रीति से बँधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। मिश्र जी विहारी को रीतिसिद्ध कवियों में मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार विहारी रीति से बँधकर भी स्वतन्त्र हैं। मिश्र जी का कहना है कि यदि विहारी को शुद्ध रीतिबद्ध कवियों के बीच बैठाया जाए तो वे अपनी विशेषता के कारण अलग से चमकते रहेंगे।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिसिद्ध काव्य का अलग से विभाजन नहीं किया, बल्कि रीतिबद्ध काव्य की चर्चा करते हुए उन्होंने उप-विभाजन किया और विहारी को रीतिसिद्ध कवि के रूप में प्रस्तुत किया। इसी उपविभाजन का संकेत लेकर बाद में डॉ. भगीरथ मिश्र ने रीतिकाव्य को तीन धाराओं में बाँटा। लेकिन अगर ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र जी ही रीतिकाल को इन धाराओं में विभाजित कर चुके थे, भले ही उन्होंने रीतिसिद्ध को एक स्वतन्त्र धारा न कहा हो। विश्वनाथ त्रिपाठी का भी यही मानना है और वे इस विभाजन का श्रेय मिश्र जी को देते हैं।

रीतिसिद्ध कवियों में मिश्र जी ने विहारी की सतसई का विस्तृत विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मतिराम सतसई का भी उल्लेख किया है। वे मानते हैं कि रीतिसिद्ध कवि लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भाँति रीति की शास्त्रकथित बातों का पूरा पालन नहीं करते, जबकि रीतिग्रन्थ लिखने वाले कवि उन लक्षणों को ही सब कुछ समझते थे।

### रीतिमुक्त काव्य

रीतिकाल के वे कवि जो किसी काव्यशास्त्रीय बन्धन में नहीं बँधे अर्थात् जो काव्यशास्त्रीय नियमों से मुक्त हैं, रीतिमुक्त कवि कहलाए। इन कवियों ने अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार काव्य रचना की। रीतिमुक्त कवियों ने अधिकतर अपने प्रेम का वर्णन किया है। मिश्र जी के अनुसार मध्यकाल में तीन प्रकार की धाराएँ प्रचलित थीं। एक भक्ति, दूसरी रीति और तीसरी स्वच्छन्द वृत्ति की। स्वच्छन्द धारा का साध्य और साधन दोनों ही काव्य था। साथ ही वे ये भी मानते हैं कि इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया। रीतिकाल की रीतिमुक्त काव्यधारा के विषय में उनका मत है कि “स्वच्छन्द काव्य भाव भावित होता है, बुद्धि-बोधित नहीं। इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है।”<sup>7</sup> इनमें रसखान, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा तथा द्विजदेव को वे प्रमुख मानते हैं। इन सबमें घनानन्द मिश्र जी को श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनकी संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। मिश्र जी इन स्वच्छन्द कवियों की प्रेम संवेदना को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे इन्हें प्रेम की पीर के पक्षी कहते हैं। वे स्वच्छन्द कवियों की अनुभूति को उनका मुख्य आधार मानते हैं, जबकि रीतिकाव्य के कर्ताओं का मूल आधारभूत तत्त्व भंगिमा है। स्वच्छन्द कवियों की रचना में भंगिमा न भी हो, परन्तु अनुभूति अवश्य होती है। इसी प्रकार रीति कर्ताओं में अनुभूति न भी हो, परन्तु भंगिमा अवश्य होती है। मिश्र जी ने रसखान, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा तथा द्विजदेव के व्यक्तित्व तथा कृतियों का सम्यक् प्रतिपादन किया है।

### रीति इतर काव्य

रीतिकाल में लक्षण, लक्ष्य ग्रन्थों एवं शृंगार काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार का काव्य भी रचा गया। भक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य की रचना भी आलोच्य काल में पर्याप्त मात्रा में हुई है। मिश्र जी ने वीरकाव्य, नीतिकाव्य, नाट्यकाव्य, अनुवादकाव्य, हास्यकाव्य, प्रशस्तिकाव्य आदि की भी व्याख्या तथा आलोचना प्रस्तुत की है। वीरकाव्य को वे प्रशस्तिकाव्य मानते हैं। रीतिकालीन वीरकाव्य के अन्तर्गत उन्होंने जोधराज, भूषण, सूदन, लाल कवि आदि की चर्चा की है। नीतिकाव्य को वे काव्य के अन्तर्गत मानते में संकोच करते हैं। वे नीति कथन को सूक्ति कहने के पक्ष में हैं।

हिन्दी के नीतिकारों में वे रहीम और दीनदयाल गिरि को साहित्यिक कोटि का नीतिकार, वृन्द को मध्यमार्गी और गिरिधर को शुद्ध नीति के कर्ता मानते हैं। गद्य के विकास को भी वे शुभ लक्षण मानते हैं।

मिश्र जी शृंगारकाल में हास्यरस की रचनाओं की कमी मानते हैं। इसका कारण वे इस काल की दरबारी रचना को मानते हैं, क्योंकि हास-विनोद का कार्य दरबारों के भाँड़ कर दिया करते थे। रीतिकाल के कवि हास्यरस को हल्का रस मानकर उसकी रचना के फेर में नहीं पड़े और रीतिबद्ध रचना लिखते रहे। शृंगारकाल में हास्यरस की जितनी भी रचनाएँ हैं, उनसे कवियों की परिष्कृत अभिमुखी झलकती है। मिश्र जी ने मध्यकाल में अनुवादकाव्य पर भी चर्चा की है। उन रचनाओं को वे अनुवाद नहीं मानते, जो आधारभूत ग्रन्थों से अनुरचित हुए हैं। यदि कोई ग्रन्थ अनुवाद के प्रयोजन से लिखा जाए तो ही वह अनुवाद कहलाएगा।

### भाषा

भाषा के सम्बन्ध में भी मिश्र जी की दृष्टि बहुत स्पष्ट है। ब्रज का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई कवि ब्रज में ही पैदा हो या वहीं जाकर बसे, ऐसा आवश्यक नहीं। उस भाषा में जो ग्रन्थ प्रस्तुत हो चुके हैं, उनके अनुशीलन से भी वह ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उनका विचार है कि शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करने वाले बहुत थोड़े कवि मिलते हैं। घनानन्द को वे ‘ब्रजभाषा प्रवीण’ कवि मानते हैं।

**आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के रीतिकालीन काव्य सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन**

मिश्र जी के रीतिकालीन काव्य सम्बन्धी विचारों के जानने के पश्चात अब हम उसका मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

मिश्र जी भाव या रस को साहित्य के लिए बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं और लिखते हैं—“भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है। इसी से उसमें कर्ताओं के मानस-पक्ष का प्रसार दूर तक दिखाई पड़ता है अर्थात् उसकी व्याप्ति प्रकृत्या अधिक होती है।”<sup>8</sup>

मिश्र जी का रस निरूपण अथवा रस-विषयक चिन्तन सूक्ष्म तथा प्रौढ़ है। उनका मानना है कि हिन्दी के मध्यकाल में रस मीमांसा की ओर प्रवृत्ति दरबारों में पांडित्य और काव्य-कौशल दिखाने के लिए हुई। आलोच्य युग को शृंगारकाल के नाम से अभिहित करने के मूल में उनकी दृष्टि शृंगार रस की प्रधानता पर ही केन्द्रित दृष्टिगत होती है। उन्होंने लिखा है—“रस की दृष्टि से रीतिकाल को जैसे शृंगारकाल कहा जा सकता है, वैसे ही शैली और प्रवृत्ति की दृष्टि से ‘अलंकारकाल’ भी। पर शृंगार की प्रवृत्ति इससे अधिक व्यापक थी।”<sup>9</sup>

वे वर्ण-विषय को किसी काल के नामकरण का श्रेष्ठ आधार मानते हैं। “साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण-विषय की व्याप्ति के अनुसन्धान से सम्बद्ध है। पर वर्ण-विषय की दृष्टि से भी वस्तुतः दो पक्ष हो जाते हैं— एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। हिन्दी के आदिकाल को ही लीजिए। इस काल में वीर पुरुषों की गाथाओं का वर्णन करने वाले ग्रन्थ अधिक मिलते हैं। अतः वीरगाथा उनका वर्ण्य हुआ अर्थात् इन ग्रन्थों में बाह्यार्थ वीर कथा है। पर कवियों ने जिस भाव या रस की अभिव्यक्ति लक्ष्य करके ये गाथाएँ काव्यबद्ध कीं, वह भी तो वर्ण्य ही है। वह बाह्यार्थ नहीं पर काव्यार्थ तो है ही, अर्थात् प्रवृत्ति का मानस या आभ्यन्तर पक्ष है। अतः इस दृष्टि से यदि आदिकाल को वीरगाथाकाल न कहकर ‘वीर-रस काल’ या संक्षेप में ‘वीरकाल’ कहा जाए तो कोई हानि नहीं। भक्तिकाल’ नाम में भक्ति शब्द की व्याप्ति उसके भाव होने से अधिक है। यदि ‘रीतिकाल’ नाम की ओर देखते हैं तो उसमें रीति अर्थात् रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, नायक, नायिका, पिंगल आदि काव्यरीति अवश्य वर्ण-विषय ही हैं, पर ‘रीति’ शब्द बाह्यार्थ का ही बोधक है, आभ्यन्तरार्थ का नहीं।”<sup>10</sup> स्पष्ट है कि काव्य रचना-पद्धति को बाह्यार्थ मानते हुए मिश्र जी ‘रीति’ की जगह आभ्यन्तरार्थ अर्थात् शृंगार को ज्यादा महत्व देते हुए शृंगारकाल कहने की करते हैं।

आलोचकों ने ‘शृंगारकाल’ नामकरण की सीमा बतलाते हुए यह कहा कि रीतिकाल के बदले शृंगारकाल नाम स्वीकार कर लेने पर भूषण और लाल जैसे वीर रस के कवियों को फुटकल खाते में डालना पड़ेगा। इस तर्क का जवाब देते हुए वे लिखते हैं—“रीति की सीमा में जितनी कृतियाँ समाविष्ट हैं, वे अधिकतर ‘शृंगार’ की सीमा में हैं। थोड़ी-सी वीर रस या शुद्ध भक्ति की रचनाएँ शृंगार की सीमा में आबद्ध नहीं होतीं।”<sup>11</sup>

शृंगारकाल नामकरण को उचित ठहराते हुए मिश्र जी एक और तर्क देते हैं—“रीतिकाल की सीमा बढ़ाने से ‘रीति’ के नाम पर उन रचनाओं को भी समेटना पड़ा है, जो रीतिशास्त्र का उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से नहीं निर्मित हुई थीं। दूसरे शब्दों में इन कवियों का साध्य शृंगार था, रीति से ये कभी-कभी साधन का काम अवश्य लेते थे। यदि शृंगारकाल नाम रखा जाता तो यह तर्क देने की भी आवश्यकता न पड़ती और वे तथा उनके अतिरिक्त फुटकल खाते में फेंके हुए और भी बहुत से कवि उसकी सीमा में आप-से-आप आ जाते।”<sup>12</sup>

यह सच है कि मिश्र जी शृंगारकाल नामकरण की वकालत करते हुए भी ‘रीति’ शब्द से मुक्त नहीं हो पाये हैं। इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि “मिश्र जी ने इस काल के कवियों का विभाजन रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त श्रेणियों में किया है। इनमें रीतिबद्ध शब्द का प्रयोग तो शुक्ल जी के यहाँ मिल जाता है, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त का नहीं। इस विभाजन का

आधार तो वही विशेषता है, जो शुक्ल जी ने बताई थी, नामकरण अवश्य मिश्र जी का है। नामकरण करके मिश्र जी ने शुक्ल जी के रीतिकाल नामकरण को पुष्ट कर दिया है। इस पर कदाचित उनका ध्यान नहीं गया। ‘रीति’ वह मानदण्ड हुआ, जिसके आधार पर इस काल के कवियों को श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। यह बात मिश्र जी के विभाजन से पुष्ट हो जाती है, फिर ‘शृंगारकाल’ कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।<sup>13</sup>

यह बात कुछ उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि रीतिकाल शब्द सुनते ही मन में ‘शृंगार’ शब्द की प्रतिमा ही बनती है। स्पष्ट है कि रीतिकाल व्यावहारिक दृष्टि से शृंगारकाल का ही पर्याय लगता है। शायद यही कारण है कि मिश्र जी भी रीतिकाल नाम की लोकप्रियता को स्वीकार करते हैं, लेकिन संवत् 1700 से 1900 के बीच लिखी कविता की प्रवृत्ति को ज्यादा अच्छे से प्रदर्शित करने की शक्ति रखने के कारण ‘रीतिकाल’ के बदले ‘शृंगारकाल’ नाम स्वीकार करने का प्रस्ताव रखते हैं। इसके लिए मिश्र जी ने रीतिकालीन कविता के उन पक्षों के मूल्यांकन पर विशेष बल दिया, जिसकी अवहेलना की जाती रही है। मिश्र जी रीतिकालीन कविता में रीतिमुक्त कविता को श्रेष्ठ मानते थे, पर इसका मतलब यह नहीं कि वे अन्य काव्यधारा को महत्त्व ही नहीं देते।

रीतिबद्ध काव्य पर विचार करते हुए मिश्र जी कहते हैं कि “रीतिबद्ध काव्य, कला के प्रदर्शनार्थ ही अधिकतर बना यह तो सर्ववादि-सम्मत है, किन्तु इस प्रदर्शन की तात्कालिक प्रेरणा, आवश्यकता या हेतु क्या था, इस पर किसी ने जमकर विचार करने का कष्ट नहीं उठाया। इस पर विचार करना इसलिए भी अपेक्षित है, क्योंकि उसके परिणामस्वरूप जिन तथ्यों की उपलब्धि होगी वे रीतिबद्ध काव्य का स्वरूप तो स्पष्ट करेंगे ही साथ ही हिन्दी-साहित्य की परम्परा का स्वरूप भी निश्चित करने में सहायक होंगे।”<sup>14</sup> और इस प्रश्न पर विचार करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—“जनता में जो रचनाएँ होती थीं, उनमें शृंगार का अतिरेक तो है, पर परकीया प्रेम का अतिरेक नहीं। परकीया की चेष्टाओं, विदधता आदि का आधिक्य फारसी-साहित्य के सम्पर्क के कारण हुआ है”<sup>15</sup> दरबार को ध्यान में रखकर काव्य-रचना करने की जो मजबूरी रीतिबद्ध कवियों की थी उसकी चर्चा करते हुए मिश्र जी कहते हैं कि—“हिन्दी के युगीन मध्ययुगीन रीतिबद्ध कवियों ने अपनी रचनाएँ समय के अनुकूल परिस्थितिवश और अपने साहित्य की मानरक्षा के विचार से की थी। उनका मुक्तक, कला-प्रधान, संगीत-प्रमुख होना अनिवार्य था। उन्होंने जो अनेक प्रकार की उद्घावनाएँ की हैं, उसके लिए वे समय की गति से विवश थे। जान-बूझकर काव्य का स्वरूप उन्होंने विकृत नहीं किया है। रही घोर शृंगारिकता की बात, सो विपरीत रति और सुरतान्त के वर्णन संस्कृत और प्राकृत की परम्परा में पहले से ही चले आ रहे थे। फिर ऐसे वर्णनों के नाम पर जितनी अधिक इनकी कृत्सा की जाती है, उतने अधिक परिमाण में वे मिलते

नहीं”<sup>16</sup> रीतिकाल के कवि मूलतः भक्त न होकर कवि ही थे। जीविका के लिए उनके पास कोई निश्चित साधन नहीं था। दरबार से जुड़ने पर कवियों को शोहरत के साथ-साथ पैसा भी मिल जाता था। इसलिए एक तरह से दरबार से जुड़ना उनकी मजबूरी भी हो गयी थी। उपर्युक्त कथन बिल्कुल उचित प्रतीत होता है। मिश्र जी का मानना है कि केवल चाटुकारिता के आधार पर रीतिकाल के कवियों को खारिज कर दिया जाएगा तो आधुनिक काल के कवि-लेखक भी पीछे नहीं रहेंगे। रीतिकाल के कवियों का मूल्यांकन करते हुए इस बात पर कई बार विवाद उठे हैं कि इस काल के कवि पहले कवि हैं या आचार्य और इन कवियों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता क्यों अनुभव की। मिश्र जी ऐसा मानते हैं कि यह सभी कहते हैं कि लक्षण ग्रन्थ संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय आधार पर बने। संस्कृत साहित्य के अनन्तर प्राकृत-साहित्य का उत्कर्ष हुआ और तदनन्तर अपभ्रंश-साहित्य का उत्थान हुआ। उन्हें भी साहित्यशास्त्र की अपेक्षा रही होंगी। पर वहाँ साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ नहीं बने। वास्तव में प्राकृत या अपभ्रंश भाषा में लिखने वालों का काम संस्कृत भाषा में लिखे साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों से चल जाता था।

मिश्र जी ने रीतिमुक्त कविता को रीतिकालीन कविता की प्रतिनिधि के रूप में सामने रखकर उसका सटीक मूल्यांकन किया है। शुक्ल जी ने रीतिमुक्त कवियों को फुटकल खाते में डाल दिया था। मिश्र जी इस बात से सहमत नहीं हुए। मिश्र जी ने सभी इतिहासकारों पर रीतिमुक्त काव्यधारा की अवहेलना का आरोप लगाते हुए लिखा है— “हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सभी इतिहासकारों ने किसी-न-किसी रूप में भक्ति और रीति का नामोल्लेख तो किया है, पर युग में प्रवाहित होने वाली एक साहित्यधारा को वे एकदम भूल ही गए हैं।” आगे वे कहते हैं कि “रीतिधारा वाले जिस साज-सज्जा में लगते हैं, उसमें बुद्धि का योग अधिक करना पड़ता है, उनकी रचना बुद्धि-बोधित होती है, इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धीरे-धीरे हटने लगता है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर। पर स्वच्छन्द काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि।”<sup>17</sup> इससे स्पष्ट है कि मिश्र जी रीतिमुक्त काव्य को स्वच्छन्द काव्य कहते हैं और रीतिकाव्य को इससे अलगाते हैं। साथ ही वे मानते हैं कि स्वच्छन्द काव्य धारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था, पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया।

#### विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का योगदान तथा उपलब्धियाँ

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जिस कठिन परिश्रम के साथ रीतिकाल के अनेक कवियों की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत किया है, उससे गुजरे बिना रीतिकाल की कविताओं का मूल्यांकन सम्भव नहीं हो सकता। यह अपने-आप में मिश्र जी की एक बड़ी उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा किया गया

रीतिकाल का वर्गीकरण तथा कवियों की विविध आयामी व्याख्या आदि उनके योगदान के महत्वपूर्ण बिन्दु हैं।

मिश्र जी ने रीतिकालीन साहित्य के अन्तर्गत रीतिमुक्त कविता को विशेष स्थान दिया है। रीतिमुक्त कविता को रीतिकालीन कविता के केन्द्र में लाकर मिश्र जी ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसे इनकी मौलिक देन कहा जा सकता है।

यदि हम “हिन्दी साहित्य का अंतीम भाग—२ शृंगारकाल” का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो इस बात का एहसास होगा कि जो लोग यह मानते हैं कि मिश्र जी ने रीतिकाल पर शुक्ल जी के लेखन का ही विश्लेषण मात्र किया है, वे यदि उनकी यह पुस्तक पढ़ें तो अपनी पूर्व मान्यता को बदलने पर विवश हो जाएँगे। पुस्तक के अध्ययन से यह विदित होता है कि अनेक स्थलों पर मिश्र जी ने शुक्ल जी के लेखन की सीमा बतलाई है और उन बिन्दुओं पर अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। यहीं नहीं इस पुस्तक से रीतिकालीन चिन्तन में एक नया मोड़ आया है। मिश्र जी ने आलोच्य काल के विभिन्न नामकरणों—अलंकृत काल, रीतिकाल, उत्तर-मध्यकाल तथा कलाकाल आदि को नकारकर ‘शृंगारकाल’ नाम की स्थापना की। प्रस्तुत नामकरण काफी समीचीन तथा तर्कसंगत होते हुए भी लोकप्रिय तो रहा, परन्तु उपयुक्त सिद्ध न हो सका।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में रीतिकाल पर विचार करते हुए सर्वप्रथम उस बिन्दु पर विचार किया जाता है, जो रीतिकालीन कविता को भक्तिकालीन कविता से अलग करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में रीतिग्रन्थों के निर्माण को रीतिकालीन कविता की पहचान से जोड़ा है। इसी का परिणाम है कि तुलसीदास के समकालीन होते हुए भी केशवदास को रीतिकाल का कवि माना जाता है। जिन केशवदास को आचार्य शुक्ल ने ‘कविहृदयविहीन’ और ‘कठिन काव्य का प्रेत’ कहकर खारिज कर दिया था, उन्हीं केशवदास के महत्व को स्वीकारते हुए मिश्र जी ने लिखा है—“मध्यकाल में केशव और बिहारी का काव्य-प्रवाह में जैसा मान था, वैसा जायसी और कबीर का नहीं। कबीर का नाम तो प्रवाह में सुना भी जाता था, पर जायसी का कोई नामलेवा तक न था। ... केशव के काव्य की पढ़ाई पहले सर्वत्र होती थी। धीरे-धीरे वे हटाए गए। यह उन केशवदास की स्थिति है, जिनकी कृतियों पर प्राचीन युग में सुरति मिश्र और सरदार कवि ने टीकाएँ लिखीं थीं।”<sup>18</sup> चूँकि रीतिकाल ही मिश्र जी का कार्यक्षेत्र था और उनकी आलोचना रीतिकालीन काव्य प्रतिमानों से बँधी हुई थी। इसलिए कबीर, जायसी जैसे युगान्तरकारी कवियों के महत्व उन्होंने नकार दिया। यह एक प्रकार से पूर्वाग्रह है, जिसके कारण उन्होंने केशव के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए कबीर और जायसी को उनसे कमतर माना।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्य कालों की तरह शुक्ल जी द्वारा किया गया रीतिकाल का समय-निर्धारण भी सर्वमान्य है। उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी ने

रीतिकाल का समय संवत् 1700 से संवत् 1900 माना है। मिश्र जी भी रीतिकाल का समय मोटे तौर पर संवत् 1700 से संवत् 1900 तक स्वीकारते हैं, लेकिन इससे सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान दिलाते हुए लिखते हैं—“विचार करने पर अवगत होता है कि साहित्य की शृंखला में इस काल की कड़ी भक्तिकाल की कड़ी के गर्भ से धूमती हुई आगे बढ़ी है।... अकबर के दरबारी कहे जाने वाले ‘करनेस’ कवि ने ‘कर्णाभरण’, ‘श्रुतिभूषण’, ‘भूपभूषण’ उसी आदर्श पर निर्मित किए, जिस आदर्श पर आगे चलकर अन्य अनेक अलंकार ग्रन्थों का निरूपण हुआ।”<sup>19</sup> आचार्य शुक्ल की बातों से अपनी असहमति प्रकट करते हुए मिश्र जी लिखते हैं—“केशवदास की ‘कविप्रिया’ को सामने रखकर यह कहना कि वह वामन, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्यों के अनुगमन पर निर्मित हुई है और हिन्दी के आदर्श ग्रन्थ कुवलयानन्द या चन्द्रलोक के भिन्न आदर्श पर खड़े हुए हैं, सोलह आने ठीक नहीं है। वामन या दंडी रीतिवादी या अलंकारवादी थे, पर जयदेव तो कट्टर अलंकारवादी थे, उनसे भी बढ़कर।”<sup>20</sup> इसके बाद शुक्ल जी के इस कथन कि—हिन्दी रीतिग्रन्थों की परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, के जवाब में उन्होंने दो टूक शब्दों में कहा कि—“रही अखंड परम्परा की बात इतिहास के पास पर्याप्त सामग्री का दारिद्र्य है। पर संवत् 1600 से लेकर संवत् 1700 तक रीतिग्रन्थों की अखंड परम्परा रही है, इस सम्बन्ध में इतिहास मुखर है...”<sup>21</sup>

अन्त में मैं यही कहना चाहूँगी कि हिन्दी आलोचना में मिश्र जी ने जिस प्रतिबद्धता, लगन और समर्पण के साथ अनेक रीतिकालीन कवियों की ग्रन्थावलियाँ सम्पादित करते हुए रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का विनम्र प्रयास किया है, वह अपने-आप में अद्वितीय है। परन्तु हिन्दी के आलोचकों ने मिश्र जी के इस समर्पण को उनकी सीमा समझ लिया और वे ऐसा मानने लगे कि मिश्र जी रीतिकाल से बाहर निकलते ही असहाय हो जाते हैं। जिस व्यक्ति ने रीतिकाल की दरबारी कविता के मूल्यांकन में अपनी जिन्दगी का अधिकांश समय बिता दिया, उस व्यक्ति की मानसिकता आधुनिक कैसे हो सकती है, आखिर रीतिकाल में ऐसा है ही क्या कि जिस पर हजारों पृष्ठ खर्च किए जाएँ। जिस काल की कविता में महिलाओं को महज भोग-विलास की वस्तु समझा गया, उस काल की कविता पर बात करके हम आधुनिक लोग अपना समय क्यों नष्ट करें। इस प्रकार की आलोचना करने वाले आलोचक शृंगार और प्रेम के अन्तर को नहीं समझ पाए। यदि समझ पाते तो वे देव, विहारी और घनानन्द के बीच के अन्तर को समझ पाते।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाव्य का मूल्यांकन रीतिकालीन काव्य मानदंडों के आधार पर किया। उन आधुनिक मानदंडों के आधार पर नहीं किया, जिसकी आवश्यकता थी। आधुनिकता के व्यापक मूल्य जैसे—स्त्री की स्वतन्त्रता, प्रेम का अधिकार, धर्मनिरपेक्षता, स्त्री-पुरुष समानता आदि के मूल्यों के आधार पर भी

रीतिकालीन काव्य की आलोचना की जानी चाहिए थी। इसका अभाव हम सर्वत्र देखते हैं। मिश्र जी ने रीतिकाल पर इतनी विस्तृत और सकारात्मक आलोचना प्रस्तुत की है, जैसी किसी और ने नहीं की। बाद के आलोचकों और शोधार्थियों ने उनके इस काम का आगे विकास करने का प्रयास नहीं किया। आज के समय में आवश्यकता इस बात की है, रीतिकालीन कविता के प्रति पूर्वाग्रह से मुक्त होकर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के लेखन का मूल्यांकन किया जाए।

## सन्दर्भ

1. हिन्दी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 104
2. वही, पृ. 105
3. वही, पृ. 105
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 171
5. हिन्दी साहित्य का अतीत भाग—2 : शृंगारकाल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 6
6. वही, पृ. 71
7. वही, पृ. 276
8. वही, पृ. 35
9. वही, पृ. 15
10. वही, पृ. 35-36
11. वही, पृ. 36
12. वही, पृ. 37-38
13. हिन्दी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 119
14. हिन्दी साहित्य का अतीत भाग—2 : शृंगारकाल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 54
15. वही, पृ. 57
16. वही, पृ. 60
17. वही, पृ. 275-276
18. वही, पृ. 70
19. वही, पृ. 45-46
20. वही, पृ. 46
21. वही, पृ. 47।

## भारतीय ग्रामीण विकास में पंचायती राज व्यवस्था की भूमिका

करतार सिंह\*

देश व समाज के विकास में पंचायत की महत्वपूर्ण भूमिका है। पंचायत देश के अतीत में थी, वर्तमान में है, और भविष्य में रहेगी। लेकिन भविष्य की पंचायत को और सुदृढ़ और मजबूत बनाना होगा चौंकि पंचायत लोकतन्त्र एवं विकास की पहली सीढ़ी है। पंचायत भारत में संस्था मात्र न होकर शताब्दियों से सहज रूप से एक महत्वपूर्ण जीवन-पद्धति के रूप में विद्यमान है। इस जीवन-पद्धति के द्वारा भारतीय ग्रामीण समाज सर्वोच्च उपलब्धियाँ हासिल कर रहा है। भविष्य की पंचायत और सशक्त बनानी होगी जिससे विकास की गति और तेज हो सके। पंचायती राज व्यवस्था ने हर वर्ग को हिस्सेदारी दिलाते हुए लोकतन्त्र की असली तस्वीर दिखाई है। विकास किसी भी स्तर का हो, उसमें किसी-न-किसी रूप में पंचायत अपनी भूमिका जरूर निभाती है। पंचायत के बिना ग्रामीण विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि अभी भी भारत में 72.22 प्रतिशत से अधिक आबादी गाँवों में रहती है और गाँवों के विकास की पहली सीढ़ी पंचायत है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी पंचायतों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उचित ही कहा था, “सच्चा लोकतन्त्र वही है जो नियले स्वर पर लोगों की भागीदारी पर आधारित हो। यह तभी सम्भव होगा जब गाँव में रहने वाले आम आदमी को भी शासन के बारे में फैसला करने का अधिकार मिले।”

### प्राचीन समय से लेकर वर्तमान तक पंचायती राज व्यवस्था

माना जाता है जब मानव-जाति की उत्पत्ति हुई होगी तो कुनबे बने होंगे तो इन कुनबों का मुखिया भी किसी-न-किसी को चुना गया होगा। लोगों के बीच प्रेम के साथ ही असहयोग एवं बेईमानी ने भी स्थान बनाया होगा। फिर संघर्ष की नौबत आई होगी

\* करतार सिंह, शोध छात्र, राजनीति विज्ञान, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उ.प्र.)

और इस संघर्ष से निवटने के लिए एवं ऐसी समस्या के समाधान के लिए ही मुखिया का अस्तित्व बढ़ा होगा। चूंकि प्रथम दृष्ट्या पंचायत का मतलब था कि पाँच वृद्ध और बुद्धिमान लोगों की ऐसी कमेटी जो दोनों पक्षों की समस्याओं का किसी पक्षपात के बिना निस्तारण कर सके। समय के साथ उसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ। इतिहास के दृष्टिकोण से देखें तो पंचायत का जिक्र ऋग्वेद में भी मिलता है। माना जाता है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ शब्द ग्रामीणी ही पंच है। रामायण में गणराज्य एवं संघों का जिक्र मिलता है। इस काल में पंचायतें ग्रामीण जीवन के संरक्षण के साथ ही राज्य सभा तक हस्तक्षेप करती थीं। एक जगह देवर्षि नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं कि क्या आपके गाँव के पंच लोग कर वसूलने में राजा का सहयोग कर रहे हैं। मध्यकाल में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह जानकारी मिलती है कि मौर्यकालीन व्यवस्था में ग्रामीण जीवन की महत्वपूर्ण भूमिका थी इसी प्रकार गुप्तकाल व हर्षवर्धन काल में भी पंचायत का जिक्र है यहाँ तक कि चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा वृत्तान्त में ग्राम जीवन का जिक्र करते हुए पंचायत की बात कही है इसके मुगलकालीन शासन में भी पंचायतों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था।

ब्रिटिश काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पहले कलकत्ता में पैर जमाया। इसके बाद धीरे-धीरे पूरे भारत में अपना जाल फैलाया और अंग्रेजी शासकों ने छोटे-छोटे रियासतों को उकसाया और उन्हें कर वसूलने का अधिकार दे दिया। ये ठिकानेदार बाकायदा राजदरबार लगाते थे। इनके दरबार में भी पंच थे। कुछ ठिकानों की ओर से हर गाँव में पंच मनोनीत कर दिया गया था। किसी भी प्रकार का संघर्ष होने पर ये पंच ही मामले को रफा-दफा करवाते थे। यह अलग बात है जिस पक्ष की ओर पंचों का रुझान अधिक होता था फैसला उसी के पक्ष में होता था। इससे कई बार पीड़ित पक्ष को ही दण्ड सहना पड़ता था। सन् 1870 ई. में लार्ड मियो गवर्नर जनरल ने स्थानीय स्वशासन के नाम पर पंचायतों को नए सिरे से विकसित करने का प्रस्ताव रखा। वर्ष 1882 ई. में लार्ड रिपन ने इन प्रस्तावों का अध्ययन करने के बाद 'लोकल सेल्फ गवर्नमेंट' को मंजूरी तो दी लेकिन यह गवर्नमेंट प्रभावी नहीं हो पाई। 1884 में चेन्नई एवं बंगाल में यूनियन पंचायतों के गठन के सम्बन्ध में कार्रवाई का एक उल्लेखनीय प्रयास था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बाल-गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल, रविन्द्रनाथ ठाकुर आदि नेताओं ने ग्रामीण जनता को उसकी प्राचीन ग्राम पंचायतों तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज व्यवस्था की याद दिलाई। वर्ष 1907 ई. में शाही आयोग का गठन किया गया जिसने देश-भर में घूमकर पंचायतों की स्थापना का सुझाव दिया। वर्ष 1920 ई. में मद्रास प्रान्त में पंचायत कानून बना। इसने स्थानीय संस्थाओं और पंचायतों को अधिकार दे दिए। वर्ष 1935 में प्रान्तों को स्वायत्ता मिली। ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतों

का निर्माण होने। वर्ष 1935 के गवर्नरमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट जनता के शासन की कई माँगें थीं परन्तु पंचायतों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। सन् 1941 ई. में ही पंचायतों के लिए अलग से विधान बनाने का एक दस्तावेज तैयार हुआ। 1946 ई. में जाकर ग्राम पंचायत अधिनियम बना। समय-समय पर विभिन्न प्रान्तों के लिए ग्राम पंचायत सम्बन्धी जो अधिनियम पारित किए गए वे इस प्रकार हैं—बंगाल में स्थानीय अधिनियम 1919, मद्रास में स्थानीय सरकार अधिनियम 1920, बम्बई पंचायत अधिनियम 1920, उत्तर प्रदेश पंचायत एक्ट 1920, बिहार सरकार अधिनियम अ 1920, सेंट्रल प्रोविन्स पंचायत अधिनियम अ 1920, पंजाब पंचायत अधिनियम 1922, असम स्व-सरकार अधिनियम 1925, मैसूर ग्राम पंचायत अधिनियम 1928। इसके पश्चात स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वर्ष 1957 ई. में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए जनसहभागिता की समस्या के समाधान के सम्बन्ध में अध्ययन करके सुझाव देने के लिए बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। 2 अक्टूबर, 1959 ई. को बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों को लागू करवाने के लिए तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज का उद्घाटन करते हुए एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। इसके बाद सन् 1959 ई. को इस व्यवस्था को लागू किया गया, अगले 3-4 वर्षों में सम्पूर्ण देश में ग्राम पंचायतों की स्थापना हो गई। भारत में अधिकांश राज्यों में बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों के त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, 2 खण्ड स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद के रूप में स्थापित कर दिया गया है।

### पंचायती राज व्यवस्था में सुधार

पंचायती राज व्यवस्था में सुधार व मजबूती करने के लिए 15 मई, 1989 को 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक लाया गया। इस विधेयक के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं का ढाँचा त्रिस्तरीय होगा। ग्राम स्तर, ब्लॉक स्तर तथा जिला स्तर; छोटे राज्य जिनकी जनसंख्या 20 लाख से कम है वे त्रिस्तरीय ढाँचा भी अपना सकते हैं; पंचायतों में महिलाओं को 30 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त होगा। यह आरक्षण अनुसूचित जाति व जनजाति के अतिरिक्त होगा। पंचायतों का कार्यकाल पाँच वर्ष का होगा, यदि किसी पंचायत का निर्धारित अवधि से पूर्व विघटन हो जाता है तो अधिकतम 6 माह के भीतर इनका नया चुनाव कराना अनिवार्य होगा। पंचायती राज संस्थाओं की अपने क्षेत्र के अन्तर्गत विकास की योजना का निर्माण करने का अधिकार होगा। यद्यपि 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में तो पारित हो गया किन्तु राज्य सभा में पारित नहीं हो सका। इसके पश्चात् 16 दिसम्बर, 1991 को पी.वी. नरसिंहा सरकार के द्वारा 72वाँ संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया।

यह विधेयक 64वें संशोधन विधेयक का ही संशोधित प्रति था। लोकसभा में 72वें विधेयक की समीक्षा हेतु संसद सदस्यों की एक संयुक्त प्रवर समिति का गठन किया गया। नाथूराम मिर्धा की अध्यक्षता में गठित इस समिति में विभिन्न राज्यों और इलाकों के प्रतिनिधि सदस्य थे। 22 दिसम्बर को लोकसभा एवं अगले दिन राज्य सभा ने 17 राज्यों के अनुमोदन के बाद 24 अप्रैल, 1993 ई. को यह अधिनियम 1993 सम्पूर्ण देश के विभिन्न राज्यों में लागू किया गया। इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग, भाग-9 संविधान में जोड़ा गया, इसके द्वारा अनुच्छेद 243 में पंचायतों में संशोधन के प्रावधान किए गए हैं, जिसमें 15 उप-अनुच्छेद हैं।

इस अधिनियम के अनुसार ग्राम सभा एक ऐसा निकाय होगा जिसमें ग्राम स्तर पर पंचायत क्षेत्र में मतदाताओं के रूप में पंजीकृत सभी व्यक्ति शामिल होंगे। ग्राम सभा राज्य विधान मण्डल द्वारा निर्धारित शक्तियों का प्रयोग तथा कार्यों को सम्पन्न करेगी, 20 लाख से अधिक जनसंख्या वाले सभी राज्यों के लिए पंचायती राज की विस्तरीय प्रणाली, प्रत्येक पाँच वर्ष में पंचायतों के नियमित चुनाव; अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण और महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण, पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय शक्तियों के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए वित्त आयोग की स्थापना; पूरे जिले के लिए विकास योजना मसौदा बनाने के लिए जिला आयोजन समिति का गठन; यह अधिनियम संविधान में अनुच्छेद 243(जी) द्वारा एक नई 11वीं सूची जोड़ता है, जिसमें 29 विषय हैं। भारत में हालाँकि पंचायतों का इतिहास बहुत पुराना है, परन्तु सही अर्थों में संविधान के 73वें संविधान संशोधन ने मृतप्राय पंचायतों को जीवन प्रदान किया है और संवैधानिक दर्जा दिए जाने से उनका अस्तित्व सुरक्षित हो गया है। इससे पंचायतों को न केवल प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हुए हैं, बल्कि वित्तीय संसाधनों की गारंटी भी प्राप्त हुई है जो ग्रामीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

### निष्कर्ष

सांस्कृतिक इकाई के रूप में गाँव निर्माण को आईना बनाकर यदि हम याद करें तो पता चलता है कि पंचायतें कैसे अस्तित्व में आई? जब किसी परिवार के सदस्यों का एक छत के नीचे साथ-साथ संकट में पड़ा या पड़ोसियों के बीच एक-दूसरे के अस्तित्व में खलल डालने की मंशा से द्वन्द्व पैदा हुआ अथवा साझी समुद्धि के कुछ सकारात्मक काम करते हुए इन तीन स्थितियों में ही पंचायतों की असल जरूरत महसूस हुई। जिन्होंने इन स्थितियों में नेतृत्व संभाला; जिन पर गाँव में भरोसा किया, वे पंच हो गए, उनसे सद और सर्वकल्याणकारी बोध के साथ निर्णय का भरोसा था; अतः उन्हें ईश्वर से ऊँचा यानी परमेश्वर माना गया। स्वानुशासन, प्रभुत्व का अभाव और सुशासन इन तीन गुणों के साथ ही कोई पंच परमेश्वर का अपना दर्जा बनाए रख सका। यदि गौर

किया जाए तो पंचायतें मूल रूप से कोई औपचारिक इकाई नहीं थीं। पारम्परिक पंचायतें एक जीवन-शैली थीं। संवाद, सहमति, सहयोग, सहभाग और सहकार की प्रक्रिया इस जीवन-शैली के पाँच सूत्र थे। क्या आज हमारी वर्तमान पंचायतें इन सूत्रों और उक्त गुणों के साथ बनाई एवं चलाई जा रही हैं? यदि हम पंचायतों को सही मायने में लोकप्रतिनिधि इकाई के रूप में देखना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें भारतीय संविधान के दस्तावेज से राज और सत्ता—इन दो शब्दों और इनका आभास कराने वाले प्रावधानों को निकाल फेंकना होगा। राज की जगह लोक और सत्ता की जगह, प्रतिनिधि सभा का प्रयोग करना होगा। पंचायत प्रणाली को सुविधा से ज्यादा, सम्बन्ध सुधारने वाली सदिवेकी, स्वावलम्बी व सर्वकल्याणकारी सांस्कृतिक प्रणाली के रूप में परिवर्तित करें। प्रणाली ऐसी हो, जिसमें ग्राम सभा की उपस्थिति अधिकतम तथा पंचायत की उपस्थिति न्यूनतम महसूस हों। ग्रामीण विकास के आर्थिक स्थिति अनुसार अशंदान तय करने का अधिकार ग्राम सभा, पंचायत व प्रशासन का साझा हों। अनुदान राशि व सामग्री की मात्रा, ग्राम-योजना की आवश्यकतानुसार हो। वह सीधे ग्राम के कोष में पहुँचे इसके लिए ग्राम सभा को किसी के चक्कर न काटने पड़े। हर पिछले वर्ष के अनुपात में अगले वर्ष बेहतर स्वावलम्बन बेहतर स्वयं सहायता समूह गतिविधि, बेहतर शिक्षा, बेहतर कौशल विकास, सार्वजनिक रकबे व संसाधनों के बेहतर प्रबन्धन, बेहतर स्वच्छता, बेहतर स्वास्थ्य दर्शन, बेहतर सड़क व रास्ते, बेहतर शौचालय व जैविक खेती का ज्यादा रकबा, ज्यादा जलसंचयन जैसे बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। हालाँकि ग्रामीण विकास में पंचायती राज व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है किन्तु केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के लिए चलाई गई विभिन्न योजनाओं का भी सही ढंग से क्रियान्वयन करना होगा तभी भारतीय ग्रामीण क्षेत्र का पूर्ण विकास सम्भव है।

### सन्दर्भ

- स्वप्निल सारस्वत (2003), भारतीय राजनीति और महिलाएँ अक्षरांकन प्रकाशन, नोएडा (उ.प्र.)
- स्वप्निल सारस्वत व डॉ. निशान्त सिंह (2004), समाज, राजनीति और महिलाएँ (दशा और दिशा) राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-110002
- रिजवान खान और आमा आहूजा (2006), “ग्रामीण विकास में पंचायतों की भूमिका”, कुरुक्षेत्र अगस्त, वर्ष 52, अंक 10, पृ. स. 27-29
- डॉ. अनुराधा पाण्डेय (2010), महिला सशक्तिकरण, इशिका पब्लिशिंग हाउस, जयपुर-302018 (राजस्थान), पृ. सं. 30-34
- डॉ. दीपक पालीवाल व सरोज पालीपाल (2010), “गाँवों के सर्वांगीण विकास में पंचायती राज की भूमिका, कुरुक्षेत्र अक्टूबर, वर्ष 56, अंक 12, पृ. सं. 50-62

6. डॉ. अश्वनी (2011), “ग्राम सभा का सशक्तिकरण समस्याएँ एवं समाधान”, योजना फरवरी, वर्ष 55, अंक 2, पृ. सं. 29-32
7. डॉ. नीरजा शर्मा (2013), महिला सशक्तिकरण, महिलादिवस कार्यक्रम—आस्था प्रकाशन, जयपुर-302003
8. संदीप सिंह (2013), ग्रामीण महिलाएँ योजनाएँ एवं विकास, “ग्रामीण महिलाओं की अर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दशा, इशिका पब्लिशिंग हाउस, जयपुर-302018, राजस्थान, पृ. सं. 53-95
9. अनीता मोदी (2014), “ग्रामीण विकास और पंचायतें”, कुरुक्षेत्र जनवरी, वर्ष 60, अंक 03, प्र. सं. 9-12
10. अरुण तिवारी (2015), “पंचायती राज आइए अतीत से सीधे, कुरुक्षेत्र, वर्ष 62, अंक 01, नवम्बर, पृ. सं. 9-13

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पत्रिका:

**पत्रिका:**

दिग्दर्शक, भारतीय संस्कृति पर केन्द्रित मासिक, वर्ष-9, संयुक्त 1-2, भोपाल-दिसंबर 2015; संपादक: विनयजोशी, प्रकाशक: श्रीमती अन्नपूर्णा जोशी, सी-9, बंजारी हाउसिंग सोसाइटी, कोलार रोड, भोपाल; पृष्ठ: 40; मूल्य: 15.00 रुपये।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर 2015 अंक मिला। इसके सभी लेख मुझे अत्यन्त हृदयस्पर्शी लगे। यहाँ केवल दो विषयों का उल्लेख करना चाहूँगा।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में पुरस्कार लौटानेवालों के मनोवृत्ति की गंभीर समीक्षा की गई है। उनका ऐसा आचरण चुनाव में मत संचित करने वालों के कृत्यों का स्मरण दिलाता है। इसके संदर्भ में अपना व्यक्तिगत अनिश्चय समाप्त करने के लिये मैं अपने निकट मित्र केकी दारुवाला से मिलने एक “साहित्यिक उत्सव” में गया था जिसमें वह कुछ ही समय पूर्व लखनऊ आये थे। भेंट की औपचारिकता अभी आरम्भ ही हो पाई थी की अशोक वाजपेई के साथ उनके कविता पाठ के निर्धारित कार्य क्रम के लिये उन्हें मंच पर जाना पड़ा। मैं कविता पाठ की प्रतीक्षा में बैठा रहा परन्तु पुरस्कार लौटाने के औचित्य की चर्चा ही चलती रही तो मैं वहाँ से लौट आया था यद्यपि बाद में दारुवाला ने बताया था कि उसके पश्चात् कविता पाठ भी हुआ था। दूसरा विषय जिस पर वास्तविक तथा विशेष रूप से चिन्ता व्यक्त की गई है वह हिन्दी भाषा के नैसर्गिक सौन्दर्य का विध्वन्स। आदरणीय नरेन्द्र कोहली तथा ब्रज बिहारी कुमार के लेखों में जो चिन्तायें व्यक्त की गई हैं उनके दूरगामी प्रभाव प्रयत्न रूप से वर्तमान में दिखाई देने लगे हैं। भविष्य में इसके परिणाम और भयावह होंगे। केन्द्र शासन में संयुक्त सचिव के पद पर नियुक्ति के समय 1983 में मैंने पत्रावली पर एक लम्बी टिप्पणी हिन्दी में लिख कर अपने सचिव के पास भेजी। वे बंगाल के मूल निवासी थे। यह ध्यान में रखते हुए कि केन्द्रीय नागरिक आपूर्ति सचिव का हिन्दी ज्ञान कदाचित् सीमित होगा मैंने हिन्दुस्तानी भाषा का कुछ अधिक प्रयोग कर दिया। उन्होंने मुझे बुलाकर नरमी से कहा कि यदि मैंने शुद्ध हिन्दी में टिप्पणी लिखी होती तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि बंगला भाषा की भी जननी संस्कृत ही है। उन्हें “हिन्दुस्तानी” भाषा का ज्ञान कम है। कहीं साहित्यिक हिन्दी को छोड़ कर हम अहिन्दी भाषी भारतीयों से अपने दूरी तो नहीं बढ़ा रहे हैं?

ज्ञान तथा स्पष्टवादिता से परिपूर्ण लेखों के लिये सम्पादक तथा लेखकों को सादर साधुवाद देता हूँ।

- श्री एस.वी.एम. त्रिपाठी, पूर्व महानिदेशक, उ.प्र. पुलिस तथा के.रि.  
पु.ब. पूर्व सदस्य, उ.प्र. मानव अधिकार आयोग;  
“सुकृति”, 3/481 विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ-226010.

‘चिन्तन-सृजन’, जो आपकी सम्पादकीय मनीषा से मण्डित है, का अक्टूबर-दिसम्बर 2015 अंक मिला। यथानिर्धारित कलेवर और सारवान सामग्री से सम्पन्न यह पत्रिका साहित्यिक पत्रकारिता के जगत में अद्वितीय है। अशेष सद्भाव, साधुभाव और गणतन्त्र-दिवस की अशेष शुभकामनाओं के साथ।

- साहित्यवाचपति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव शूभैषणा, एमको फैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सदलपुर, पटना-800006.

चिंतन-सृजन (अंक : जुलाई-सितंबर 2015): चिंतन-सृजन एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस अंक में प्रबुद्ध लेखकों के समसामयिक विषयों पर काफी मेहनत एवं लगन से तैयार की गयी रचना-सामग्री का समावेश किया गया है। पत्रिका अपने शीर्षक के अनुरूप काफी गंभीरता एवं व्यापकता लिए हुये हैं। लेखों के अंत से संदर्भ ग्रन्थों की सूचियाँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि इन लेखों के पीछे एक वृहत अध्ययन एवं चिंतन है, इन्हें कल्पना के आधार पर नहीं बल्कि तथ्यों के आधार पर तैयार किया गया है। अतः इन्हें पढ़ने के लिए पाठक को भी अपनी एक तैयारी कर लेनी चाहिए।

संपादकीय प्रारंभेक्ष्य में अमर्त्य सेन की बौखलाहट और हमारे शिक्षातंत्र की वास्तविकता पर अपना विचार प्रकट करते हुए बहुत सही बात कही गयी है कि शिक्षातंत्र के उच्चशिखर पर आसीन होने वाला व्यक्ति उस तंत्र विशेष का विशेषज्ञ अवश्य होना चाहिए न कि किसी अन्य क्षेत्र की उनकी उपलब्धता के आधार पर उसे किसी ऐसे क्षेत्र का नियंत्रक बना दिया जाय जिसके बारे में उसकी कोई पहुँच नहीं हो। प्रशासन द्वारा इस संबंध में विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। कम से कम शिक्षातंत्र को गुटबाजी से दूर रखा जाना चाहिए। अज्ञेयजी और कमलेशजी पर सुधी लेखकों ने बहुत ही मार्मिक ढंग से अपनी बात कही है। वैसे अंक में समाहित सभी लेख पठनीय एवं ज्ञानवर्धक हैं, फिर भी ‘मीसा और इंसानियत’, ‘घरेलू हिंसा: एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण’, ‘माया ऐसी मोहिते भाई, जैते जिउ तेन भटकाई’ इस अंक के विशेष आकर्षण कहे जा सकते हैं।

- सुरेन्द्र प्रताप सिंह, सामान्यजन संदेश, अंक 111 अक्टूबर/  
नवंबर/दिसम्बर 2015.